विचारों का स्वराज

चिंतन सृजन में स्व की खोज

विचारों का स्वराज

चिंतन सृजन में स्व की खोज

राकेश सिन्हा

भारत नीति प्रतिष्ठान
India Policy Foundation

प्रकाशक :
भारत नीति प्रतिष्ठान
नई दिल्ली-110016
ई-मेल : indiapolicy@gmail.com
वेबसाइट : www.indiapolicyfoundation.org

© राकेश सिन्हा

प्रथम संस्करण :
सितम्बर, 2018

ISBN: 978-93-84835-27-9
मूल्य : ₹ 100/-

मुद्रक :
नागरी प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

अनुक्रम

प्राक्कथन	vii
अनौपनिवेशीकरण का अभिप्राय	13
विचार और संस्कृति का स्वराज	29
पाश्चात्य आधिपत्य बनाम स्थानीयता	47

प्राक्कथन

आजादी (15 अगस्त, 1947) के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रेस वक्तव्य जारी किया, जिसमें कहा गया था, 'हमें 15 अगस्त को इस प्रकार से मनाना है जिससे लोगों की मानसिकता में यह परिवर्तन आ जाए कि वह स्वतंत्र भारत के स्वाभाविक नागरिक हैं... हमारी नियति अब हमारे हाथों में है... अब हमें एक मजबूत और सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण करना है... हमें एक लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्थापित करना है... हमें व्याप्त असमानता, गरीबी और बेरोजगारी को मिटाना है... हमें लोगों का सशक्तिकरण करना है।[1] कांग्रेस के इस संकल्प में आर्थिक एवं राजनीतिक बातों का उल्लेख तो था; परन्तु लम्बी दास्तां की जो छाया सांस्कृतिक और भारत के विचारों की दुनिया में हुआ था उसका सीधा उल्लेख नहीं था। जाहिर है राष्ट्र के सशक्तिकरण में संस्कृति और मानसिक उन्नति दोनों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। उपनिवेशवाद ने भारतीय मन को अपने अनुकूल ढालने का उपक्रम किया था, इसलिए आजादी के बाद हर भारतीय को अपनी सांस्कृतिक और सभ्यताई पहचान को प्राप्त करना भी एक कम बड़ी चुनौती नहीं थी। लेकिन भारत का प्रभावशाली राजनैतिक उपक्रम औपनिवेशिक संस्कृति से विमुक्तिकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की जगह पश्चिम के अनुकूल बने रहने का हिमायती बन गया। पश्चिम को देखकर और उसकी भावनाओं का आदर करते हुए भारत को परिभाषित करने की जो कोशिशें हुईं; उसने अनौपवेशिक उपक्रम को शिथिल कर दिया। यही कारण है कि आजादी से पहले जिस प्रकार से भारत की प्राचीन सांस्कृतिक, बौद्धिक और दार्शनिक विरासत पश्चिम के विद्वानों की व्याख्या का मोहताज रही। वह क्रम चलता रहा। देशज प्रतिभाएं, जो देशी साहित्य, संस्कृति और दृष्टिकोण को आगे लेकर बढ़ना चाहते थे; उन्हें विदेशी भाषा अंग्रेजी के वर्चस्व का सामना करना पड़ा। उनके समक्ष, बौद्धिकता की पहली पंक्ति में आने के लिए एक ही विकल्प था और वह था भारतीय भाषाओं को छोड़कर अंग्रेजी के साथ चलना। यह दबदबा किस हद तक जारी रहा इसे हम इस प्रकार देख सकते हैं कि आज

1. कांग्रेस सर्कुलर, द हिन्दुस्तान टाइम्स, 21 जुलाई, 1947

भी एक कन्नड़ भाषी या असमिया या मलयाली या हिन्दी भाषी ग्रामीण व्यक्ति को चिकित्सक द्वारा लिखा गया पर्चा अंग्रेजी में मिलता है और आजादी के सात दशक बाद भी न्यायालय की भाषा अंग्रेजी ही बनी रही और न्याय अंग्रेजी में दिया जाता रहा है। भाषाई आधिपत्य ने देश में सांस्कृतिक और वैचारिक आवागमन को दुष्कर बना दिया है। उसका दुष्परिणाम हमारे विमर्श में खंडित दृष्टिकोणों की परिस्थिति से दिखाई पड़ता है।

दुनियाभर में भारतीय दर्शन की प्रतिष्ठा हुई है और पश्चिम के विद्वानों ने इसके महत्व को समझा भी है तथा अपने तरीके से अपने लेखन व साहित्य में उसका दोहन करते हुए आंशिक रूप से उद्धरण भी दिया है। हमने उस दार्शनिक सम्पदा को न ही महत्व दिया और न ही उसे आगे बढ़ाने का काम किया। पश्चिम के दार्शनिकों ने अपने विद्वता और हितों के अनुरूप उसका जिस प्रकार उपयोग किया उसका एक उदाहरण है हेरोल्ड कॉवर्ड ने पश्चिम के दार्शनिक देरिदा की तुलना भारत के दो महान दार्शनिकों शंकर और अभिनव गुप्त से की है।[2] वह देरिदा को परम्परागत भारतीय दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के बीच एक पुल मानता है।

उपनिवेशवाद ने सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता छीनने का काम नहीं किया है बल्कि वह तो आर्थिक शोषण की भी पराकाष्ठा थी। भारत के विद्वानों भास्कर पांडुरंग तर्खंडकर, दादाभाई नौरोजी, रजनी पामदत्त, आर. सी. दत्त आदि ने भारत से लूटे जा रहे धन एवं सम्पदा पर शोधपूर्ण बातें कीं। दुर्भाग्यवश, सम्पदा की लूट स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भाषणों का हिस्सा तो खूब रही लेकिन यह एक ठोस आख्यान बनकर राजनीतिक आंदोलनों के समकक्ष स्थापित नहीं हो पाई। यही कारण है कि आजादी के बाद लिखी गई पाठ्य-पुस्तकों में साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा आर्थिक शोषण और लूट की कहानी सतही तौर पर वर्णित है। इस प्रकार के सत्य को सामने आने में चार से पांच दशक लग गए।

विचार के क्षेत्र में उपनिवेशवाद ने उन सभी तर्कों और ताकतों को दबाने का काम किया है जो भारत के भौगोलिक एवं सांस्कृतिक सम्प्रभुता के हिमायती थे। इसकी क्रूरता को इसी बात से समझा जा सकता है कि ब्रिटेन के एक पादरी रोज़र विलियम्स् ने ब्रिटेन के राजा की इस बात के लिए आलोचना की, कि जिस भूमि पर वहां की जनजातियां रहती हैं; उन स्थानों पर उपनिवेश स्थापित करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। इस बात के लिए उसे गिरफ्तार कर लिया गया और बाद में उसका कोई पता-ठिकाना नहीं मिला।[3] उसने

---

2. कॉवर्ड, हेरोल्ड, 1990, देरिदा एंड इंडियन फिलॉसफी
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, खण्ड-1, पृष्ठ-163-164

लिखा था कि वह चौदह सप्ताह तक नहीं जान पाया था कि बिस्तर और रोटी का मतलब क्या है? अगर उसने जिन भारतीयों के साथ समय बिताया, वे भोजन नहीं कराते तो वह मर गया होता।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद की क्रूरता और पाखण्ड को उजागर करने के साथ-साथ साम्राज्यवाद और भारतीय सभ्यता के बीच बुनियादी अन्तर को सामने लाना आवश्यक है। वह तभी हो सकता है जब हम अपनी स्थानीयता, अपनी मौलिकता और अपनी अभिव्यक्ति में दुनिया को देखें, समझें और उससे संवाद करें। नकलचियों और अनुवादकों का समूह या दूसरों के सिद्धांतों की व्याख्याकारों का वर्ग कभी वैचारिक सत्ता हासिल नहीं कर पाता है। इसे हासिल करने के लिए निरन्तर तप और ज्ञान साधना की जरूरत पड़ती है, जिसका उद्देश्य लोकहित में सिद्धांतों का प्रतिपादन करना होता है। औपनिवेशिक संस्कृति ने हमारी ज्ञान परम्परा को ठेस पहुंचाई है और ज्ञान का मतलब पश्चिम को अधिक समझना और जानना तथा उसके सिद्धांतों की व्याख्या करना मात्र रह गई है। यह हमारे अपने मूल पिंड के प्रतिकूल है। वियोगी हरि ने लिखा है, 'ज्ञान को भारतीय परम्परा ने सबसे ऊंचा स्थान दिया है। उसे परम पवित्र माना गया है। ज्ञान का अर्थ किसी बात की बाहरी जानकारी नहीं है। निरन्तर चिन्तन द्वारा तत्व की गहराई में उतरकर प्रत्यक्ष अनुभूति को ज्ञान कहा गया है। यह त्याग, संयम और तप से प्राप्त किया जाता है।' कठोपनिषद् के नचिकेता की कथा प्रसिद्ध है। यम जो कि, साक्षात् मृत्यु था उससे, उसने ज्ञान की ही याचना की थी।[4] भारत की ज्ञान परम्परा में प्रतिबद्धता की कहानी का उल्लेख साने गुरुजी ने किया है। कहा जाता है कि पाणिनि को व्याकरण के अलावा कोई दूसरी बात सूझती ही नहीं थी। जो भी उनके पास आता, उसे वे व्याकरण ही सिखाते। एक दिन पाणिनि तपोवन में व्याकरण सिखा रहे थे, कि एकाएक बाघ आ गया। उसे देखकर वे भागे नहीं। व्याघ्र की व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ सूंघता-सूंघता आ रहा था। उन्होंने कहा, 'इस सूंघते-सूंघते आने वाले को देखो-'व्याजिघ्रति स व्याघ्रः'। पाणिनि व्युत्पत्ति समझाने के आनन्द में मग्न थे। लेकिन शिष्य कब के ही भाग गए थे। बाघ झपटकर पाणिनि को खा गया। ज्ञान की कितनी बड़ी उपासना है यह! ज्ञान का उपासक सबकुछ भूल जाता है। वह अपने उन विचारों में तन्मय हो जाता है।'[5]

भारत की ज्ञान परम्परा में भारत का सभ्यताई और सांस्कृतिक परिवेश निहित है। इसीलिए इसका प्रभाव समान भारतीयों की व्यवहार प्रणाली पर पड़ा। सुन्दर लाल ने लिखा

---

4. हमारी परम्परा, पृष्ठ-9
5. गुरुजी, साने. भारतीय संस्कृति

है, 'भारतवासियों में अपने और पराए का भेदभाव मौजूद नहीं था'।[6] उन्होंने आगे कहा, 'इतिहास में स्पष्ट है कि अनेक दोषों के होते हुए भी भारतवासियों के अपने वचन का पालन करना एक सामान्य नियम था; जिसके कहीं-कहीं अपवाद मिल सकते हैं। दूसरी ओर, कम्पनी के अंग्रेज प्रतिनिधियों का अपनी प्रतिभाओं का नि:संकोच उल्लंघन करना एक सामान्य नियम था; जिसका शायद ही कोई अपवाद मिल सके। इसलिए 1757 ई. से लेकर 1857 ई. तक बार-बार के प्रतिकूल अनुभवों के होते हुए भी भारतवासियों ने सदा अंग्रेजों द्वारा ही प्रतिज्ञाओं पर विश्वास किया।[7] इसी क्रम में अंग्रेजों ने भारत की शिक्षा पद्धति को नष्ट किया और सांस्कृतिक प्रवाह को बाधित किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति को रीलिजन (Religion) के आईने में प्रस्तुत करना शुरू किया। संस्कृति पर आघात मनुष्य के स्वभाव को बदलने के साथ उसकी मौलिकता का ह्रास भी करती है। इसलिए अनौपनिवेशीकरण स्वतंत्रता की दूसरी लड़ाई है। इसका तात्पर्य रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'गोरा' उपन्यास (1910) में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, 'हम अपने देश को दूसरे देश के द्वारा स्थापित न्यायालय और कानून के अंतर्गत अपराधी के रूप में खड़ा नहीं होने देंगे। हम अपने को या तो लज्जित होने के लिए या गौरवान्वित महसूस करने के लिए कुछ पश्चिमी आदर्शों के साथ बिन्दु-दर-बिन्दु तुलना नहीं करेंगे।' इस अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ मैथलीशरण गुप्त की उन पंक्तियों में सारगर्भित रूप में निहित है, जिसमें उन्होंने भारत-भारती में लिखा है :

'हम कौन हैं, क्या हो गए और क्या होंगे अभी,
आओ विचारे मिलकर ये समस्याएँ सभी'

ऐसा ही विचार हमारे बुनियादी सोच को आगे बढ़ाता है और नयी दृष्टि प्रदान करता है। महर्षि अरविन्द ने लिखा है, 'विचार की मौलिकता के प्रति मनुष्यों के रवैए में हमेशा ही एक स्वाभाविक झिझक और असंगति रही है। हालांकि मौलिक चिन्तन अपनी दुर्लभता, चमक और प्रभावशीलता के कारण सराहा जाता है, लेकिन व्यवहार में इन्हीं खूबियों के कारण उसे आमतौर पर खतरनाक माना जाता है। लोग उसका उपहास करते हैं और उससे भयभीत भी रहते हैं। दरअसल, मौलिकता में स्थापित विचारों को अस्त-व्यस्त कर देने की क्षमता होती है। इसीलिए तामसी व्यक्तियों और तामसी स्थितियों वाले समाजों की स्वतंत्रता हतोत्साहित करने की कोशिशें खासतौर से की जाती हैं। उनका जोर हमेशा प्राधिकार पर

6. भारत में अंग्रेजी राज, प्रथम खण्ड, पृष्ठ-112
7. वही, पृष्ठ-17

रहता है। दूसरे समाजों के मुकाबले भारतीय समाज पिछले दिनों कहीं ज्यादा तामसी हुआ है। इसमें जड़ता भरी जा रही है और यह अपनी संकीर्णता में उत्तरोत्तर संतुष्ट रहने लगा है।'

अनौपनिवेशीकरण का उद्देश्य इसी जड़ता को समाप्त कर अपनी मौलिकता को जीवित करना है। महर्षि वेद व्यास के अनुसार मनुष्य ही ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र बिन्दु है और जब मनुष्य अपने आपको सांस्कृतिक विरासत और वर्तमान के यथार्थ और भविष्य की चुनौती से जोड़ लेता है तो वह विचारवान हो जाता है। इस पुस्तक में ऐसे ही प्रश्नों पर ऐतिहासिक और तुलनात्मक तरीके से विमर्श किया गया है। पुस्तक का नाम 'विचारों का स्वराज' कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा 1931 में दिए गए भाषण का ही शीर्षक है। यह अनौपनिवेशीकरण के लिए अत्यन्त उपयुक्त शब्द है। इस पुस्तक को अंतिम रूप देने में जिन लोगों का सहयोग मिला है, उनमें दिल्ली विश्वविद्यालय के राम विलास यादव, राजेश्वर कुमार और साक्षी यादव के प्रति मैं आभारी हूँ। प्रतिष्ठान के शिव कुमार सिंह का परिश्रम भी सराहनीय है। साथ ही, आशीष रावत को भी टंकण में योगदान के लिए धन्यवाद देता हूँ।

प्रो. राकेश सिन्हा

26 सितम्बर, 2018

I अनौपनिवेशीकरण का अभिप्राय

मानव सभ्यता के इतिहास में 20वीं शताब्दी कई कारणों से महत्वपूर्ण है। इस दौरान दुनिया ने दो विश्व युद्धों को देखा, जिसके कारण बड़े पैमाने पर भौतिक और मानसिक क्षति हुई। लेकिन इसी दौरान पश्चिमी साम्राज्यवाद को चुनौती भी मिली। दुनिया के प्रताड़ित और दबे-कुचले लोगों ने साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ आवाज उठाई एवं स्वाधीनता की ओर कदम बढ़ाया। साम्राज्यवाद से मुक्ति का आंदोलन सिर्फ हितों के टकराव का प्रतीक नहीं था, ना ही सिर्फ विदेशी सत्ता बनाम स्वराज की लड़ाई थी बल्कि समानता, सम्मान, स्वतंत्रता जैसे मूलभूत सिद्धांतों की भी पुनर्स्थापना थी। साम्राज्यवाद एक अत्यंत ही विषमतामूलक और बर्बर मान्यता पर आधारित था। इसके अनुसार श्वेत लोगों के ऊपर उपनिवेशों के लोग 'बोझ' (White man's burden) थे और उपनिवेशवाद इन लोगों को 'विकसित' और 'सभ्य' करने की व्यवस्था थी। इस नस्लवादी सिद्धांत को मुक्ति आंदोलनों ने ध्वस्त कर दिया। लेकिन उपनिवेशवादियों ने कुटिलतापूर्वक स्वतंत्रता आंदोलन को भी प्रभावित किया। स्वतंत्रता की लड़ाई राजनीतिक स्वतंत्रता में सिमट कर रह गई। पश्चिम का विचार, दर्शन और संस्थाओं में स्वतंत्रता आंदोलन के नेतृत्वकर्ता की पूरी या आंशिक आस्था दिखाई पड़ती थी।

राजनीतिक और भौगोलिक स्वतंत्रता तो इन मुक्ति आंदोलनों के द्वारा परतंत्र देशों को जरूर मिली। लेकिन पश्चिम की प्रवृत्ति में बुनियादी परिवर्तन नहीं हो पाया जिसे हम स्व-विस्तारवादी (Self Aggrandisement) कहते हैं, वह पश्चिम का एक सभ्यताई चरित्र है जो विभिन्न रूपों में प्रकट होते रहता है। वह कभी भौगोलिक, कभी राजनीतिक, कभी सांस्कृतिक और कभी वैचारिक आधिपत्य (Ideological Hegemony) की स्थापना में प्रतिबिम्बित होते रहता है।[8] इसलिए नव स्वतंत्र देशों को उन्होंने दो आधार पर निरंतर शिकंजे में बनाए रखने का एक संगठित और वैज्ञानिक तरकीब अपनाया। पहला, विकास

8. गोलवलकर, एम.एस., विचार नवनीत, 2000, बंगलुरु, साहित्य सिंधु प्रकाशन

के मापदंडों के आधार पर उन्हें अविकसित, पिछड़ा और विकासशील की श्रेणी में रखकर अपनी प्रभुता, महत्ता और परस्पर विषम सम्बन्ध को एक प्रकार का संस्थागत रूप दे दिया। यह स्वतंत्र देश के निवासियों के भी मन में ऐसे पैठ कर गया कि इस देश के शासक और उनकी नीतियाँ पश्चिम के आर्थिक नीतियों का अनुकरण करने के लिए न सिर्फ बाध्य हुईं बल्कि उसे स्वाभाविक और आवश्यक मान बैठीं। नवउदारवाद का वर्तमान दर्शन बिना किसी रोक टोक के उन तमाम देशों में सामाजिक-आर्थिक दर्शन के रूप में प्रचलित हो गया है और वे उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दुष्प्रभावों के मूल्यांकन की भी आवश्यकता नहीं समझ पा रहे हैं। नवउदारवाद पूरी दुनिया में बाजारवादी संस्कृति के साथ मनुष्य को सामुदायिक और संवेदनशील जगत से निकालकर बाजारवादी और स्वार्थी जगत में जीने की आदत डाल रहा है। दुनिया भर के लोगों में उन्नति को देखने के दृष्टिकोणों में जो वैविध्य है तथा उत्पादन और उपभोग में जो स्थानीयता का भाव है वे समाप्त होती जा रही हैं। पश्चिम एकरूपता का पक्षधर है। यह न सिर्फ अस्वाभाविक है बल्कि प्रकृति के नियम के भी प्रतिकूल है। बाजार सम्पन्नता का एक महत्वपूर्ण कारक हो सकता है, परन्तु जीवन का केन्द्रीय भाव नहीं बन सकता है। बाजार पारिवारिक जीवन को सिमटने, सामुदायिक जीवन से पीछे हटने और व्यक्तिवादी बनने के दर्शन के औचित्य को स्थापित करता है। सामुदायिकता और संवेदनशीलता का अंत होना मनुष्य को मशीन की तरह निर्जीव और कठोर बना देता है। उसी प्रकार जब स्थानीय स्तर की प्रतिभाओं की अपने कौशल, अपनी दृष्टि, अपने विशिष्ट उत्पादन-उपभोग की संस्कृति का मौलिक रूप नष्ट होता है तब मनुष्य अकारण ही अशांत और मौलिकता की बेरोजगारी का अनुभव करता है। हालाँकि उपनिवेशवाद का तो अंत हो गया लेकिन औपनिवेशिक प्रवृत्ति दूसरे रूपों में कायम रही। इसलिए साम्राज्यवाद या नवउदारवाद पर कोई भी विमर्श तब तक साकारात्मक, उद्देश्यपूर्ण और रचनात्मक नहीं हो सकता, जब तक कि पश्चिम के समाज की सभ्यताई नींव और मान्यताओं को हम समझ नहीं लेते हैं।

कोई भी घटना शून्य में नहीं घटती है। वे घटनाएँ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र की उपचेतना में विद्यमान भाव, उद्देश्य और विचारों की प्रतिबिम्ब होती हैं। इसलिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलनों का जहाँ-जहाँ रूप साम्राज्यवादी सत्ता से टकराव मात्र रहा है, वहाँ सभ्यताई और वैचारिक पराधीनता की साया बनी रही है। लेकिन जिन आन्दोलनों ने साम्राज्यवाद और राष्ट्र के बीच के संघर्ष के साथ-साथ सभ्यताई दार्शनिक प्रश्नों को भी रेखांकित किया है उन स्वतंत्र राष्ट्रों में पश्चिम का वैचारिक उपक्रम सतत चुनौतियों के दायरे में ही रहा है। पहले प्रकार के देशों में पश्चिम के प्रभाव को बुराई की जगह अच्छाई के रूप में देखा जाने लगा और दूसरे

प्रकार के देशों में उन प्रभावों को आत्मग्लानि और आत्मसमर्पण के रूप में महसूस किया जाता रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन के दूसरे चरण में जैसे ही लोगों में आत्मविश्वास और मौलिकता के प्रति चेतना जागृत होती है वैसे ही वैचारिक आधिपत्य बालू की भीत की तरह ढह जाता है। लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के लोगों में इसके अलग-अलग रूप दिखाई पड़ते हैं। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की विशिष्टता यह रही है कि इसने स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान संघर्ष को सिर्फ राजनीतिक दायरे में सिमटने नहीं दिया। दुनिया भर के विचारधाराओं एवं स्वदेशी दृष्टिकोणों का यह आंदोलन जीवंत प्रयोगशाला रहा है, जिसके कारण साम्राज्यवादी संस्कृति देशज नहीं बन पाई। जहाँ एक ओर राजनीतिक सत्ता को चुनौती दी जाती रही वहीं पश्चिम के विचार को स्वदेशी अवधारणा के द्वारा निष्प्रभावी करने का अनवरत्त प्रयास भी चलता रहा। विपिनचन्द्र पाल की रचना 'द सोल ऑफ इंडिया', महर्षि अरविन्द का 'वन्दे मातरम्' अखबार में वैचारिक प्रवाह, महात्मा गांधी का 'हिन्द स्वराज', लोकमान्य तिलक का 'गीता रहस्य' और बंकिम की भावपूर्ण रचना (गीत) 'वन्दे मातरम', स्वामी दयानन्द सरस्वती का 'सत्यार्थ प्रकाश', लाला लाजपत राय का 'दु:खी भारत', रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'स्वदेशी मेला', इत्यादि ग्रंथ भारतीय सभ्यता की मूल चेतना के उद्घोषक रहे हैं, जिसने पराधीन युग में भी इस बात का आभास कराया है कि सांस्कृतिक और बौद्धिक विरासत की धारा भले ही समकालीन भारत में कमजोर हुई है परन्तु हमारी चेतना, मन और विवेक में उसके बीज, अभिप्राय और स्वाभिमान विद्यमान हैं। इसका एक दूसरा पक्ष भी था। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन ने उन तमाम विचारधाराओं एवं सामाजिक दर्शन का विरोध किया है जिसने मनुष्यों के बीच भेदभाव और परस्पर विद्वेष पैदा किए हैं। फासीवाद, नाजीवाद, नस्लवाद और रंगभेद इन सभी विचारधाराओं को भारत की जनता ने अपना शत्रु समझकर उसके प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं होने के बावजूद, प्राथमिकता के साथ उसका विरोध किया है। उपनिवेशवाद के दौरान स्थानीय लोगों के आध्यात्मिक चेतना को भी विनष्ट करने की पुरजोर कोशिश हुई है। चार्ल्स ग्रांट[9](1746-1823) ने जिस नीति को अपनाने की सलाह दी थी उसका मकसद ईसाई (Evangelical) पद्धति की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से Evangelical System of Education को देकर लोगों में व्यक्तिगत पहचान का वैसा सार जैसा हम जानते हैं, (Essence of personal identity as we know it) पैदा किया जाए। उसने उपनिवेशों में सिर्फ आंशिक सुधारों की बात कही थी, जो 'अंग्रेजी तौर-तरीकों के नकलची लोगों को पैदा करेगी और उन्हें इस बात के लिए बाध्य

9. ग्रांट, चार्ल्स, ऑब्जर्वेशन्स ऑन द स्टेट ऑफ सोसाइटी अमंग द एशियाटिक सब्जेक्ट्स ऑफ ग्रेट ब्रिटेन, 1972

करेगा कि वे हमारे संरक्षण में रहें'। इस प्रकार उपनिवेशवाद ने जीवन के सभी आयामों को क्षत-विक्षत करने का प्रयास किया। जिस अनुपात में जिस राष्ट्र में लोगों के बीच विचारों की प्रधानता थी उस अनुपात में उपनिवेशवाद क्षत-विक्षत करने में कम सफल रहा।

औपनिवेशिक युग में जो पश्चिम की विचारधारा थी उसमें राजनीति, व्यापार, धर्म और दर्शन सबमें अंतर्सम्बन्ध था। इसलिए यह एक उपक्रम था जिसमें राजनीतिक सत्ता का दुष्प्रभाव और आर्थिक शोषण तो दिखाई पड़ता था लेकिन उसकी आड़ में विचारों और संस्कृति का जो गुरिल्ला आक्रमण होता था आंशिक रूप से वह भी देर से दिखाई पड़ता था। यही कारण है कि पश्चिम ने उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद भी देशों के बीच विचारों, चिंतन, शास्त्रीय व्याख्यानों और समाजशास्त्रीय रचनाओं को अपना अनुगामी बनाए रखा। इसका एक बड़ा उदाहरण आश्चर्य में डालने वाला है। पश्चिम के जिन समाजशास्त्रियों को हम अपनी पुस्तकों और विमर्शों में महान चिंतकों के रूप में उद्धृत कर स्वतंत्रता और अधिकारों की अवधारणा की बात करते हैं, उन चिंतकों और लेखकों के मूल चरित्र को भी हमें समझने में कई दशक लग गए। इनमें से कई वे आतंकी औपनिवेशिक नौकरशाह थे, जिन्होंने लोगों पर जुल्म ढाने तथा उनका अतिशय आर्थिक शोषण करने का काम किया एवं दूसरी तरफ अपने लेखों और पुस्तकों के द्वारा वैचारिक नेतृत्व को भी बनाए रखने की कोशिश की। भीखू पारेख ने पश्चिम के दो प्रतिनिधि चिंतकों जॉन लॉक (1632-1704) और जे.एस. मिल (1806-1873) के चरित्र को उदाहरण के रूप में रखा है। इन दोनों चिंतकों को पश्चिम द्वारा प्रतिपादित 'उदारवाद' और 'लोकतंत्र' का एक प्रकार से जनक माना जाता है। जॉन लॉक के जीवनीकार मॉरीस क्रैनस्टन[10] ने शोध के द्वारा यह बात जगजाहिर किया है कि वाणिज्यिक उपनिवेशवाद के प्रति जॉन लॉक के उत्साह के पीछे उसके संरक्षक शाफ्टसबरी के अर्ल (Earl of Shaftesbury) की प्रेरणा थी। उसका उत्तर अमेरिका के उपनिवेशों

भीखू पारेख

10. क्रैनस्टन, मॉरीस. जॉन लॉक : अ बायोग्राफी, लंदन, लांगमैन ग्रीन, 1957.

(जिसे न्यू वर्ल्ड कहा जाता था) में वित्तीय स्वार्थ था। लॉक ने भारत की भौगोलिक सम्प्रभुता के लिए भारतीयों को राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए अयोग्य बताया। उसके अनुसार वे इसे सम्भालने में असमर्थ हैं क्योंकि 'जंगली' और 'असभ्य' रूप के कारण वे स्वयं को 'मानवता के सभ्य वर्ग' के बराबर तबतक नहीं रख सकते हैं, जबतक उन्हें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सहायता नहीं की जाए।[11] मिल ने अपने व्यावसायिक जीवन का एक बड़ा समय लंदन स्थित साम्राज्यवादी कार्यालय (जो इंडियन ऑफिस के नाम से जाना जाता था) में व्यतीत किया। उसने 'लिबर्टी एंड रिपर्जेंटेटिव गॉर्मेंट' नामक पुस्तक की रचना की। इसमें उसने लिखा है कि मनुष्य की स्वतंत्रता और निर्वाचित सरकार की अवधारणाओं को भारत में इसलिए लागू नहीं किया जा सकता है कि वे सभ्यताई रूप से निम्न स्तर के लोग हैं। मिल ने ईस्ट इंडिया कम्पनी में सन् 1813-1858 तक काम किया। उसके अनुसार भारत के लोग स्व-विकास में अक्षम हैं और उनका विकास सिर्फ विदेशियों के द्वारा ही किया जा सकता है। उसने ब्रिटिश आधिपत्य की तुलना बच्चों पर उनके पिता के अधिनायकवाद से की है। उनके विचारों पर टिप्पणी करते हुए भीखू पारेख ने लिखा है कि 'वैयक्तिकता, स्वायत्तता और नैतिक स्व-विकास जैसे गुणों पर जोर देने वाले ये उदारवादी 19वीं शताब्दी के उस पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थक रहे हैं जिसने इन गुणों को हासिल करने में आम पुरुषों और महिलाओं को असमर्थ बना दिया।' उन्होंने आगे लिखा है कि उदार विचारों और व्यवहारों का जो विरोधाभास और परस्पर-भेद था वह आज के समय में भी दिखाई पड़ रहा है।[12] पश्चिम के उदारवादी विचारों की नींव जिन चिंतकों ने डाली है वे राजतंत्र, वंशतंत्र तथा अनैतिकता पर आधारित आर्थिक संरचना एवं उपनिवेशवादी शासनतंत्र से अभिन्न रूप से जुड़े थे।

औपनिवेशिक शासन के अंत ने पश्चिम के इन बुराईयों को 'आधुनिकता के मुखौटे के द्वारा पूर्व उपनिवेश के लोगों में जारी रखने का प्रयास किया है' इसलिए विचारों की दुनिया में उनका आधिपत्य अभी भी समाप्त नहीं हुआ है। उसके दो प्रमुख कारण हैं। पहला, पश्चिम और पूर्व औपनिवेशिक देशों के बीच की आर्थिक विषमता रही है। पश्चिम कभी भी इस आर्थिक सम्पन्नता के पीछे प्रताड़ित दुनिया के लोगों के संसाधनों के दोहन की बात नहीं करता है। वह मानकर चलता है कि भूतकाल की घटना का सम्बन्ध वर्तमान

11. पारेख भीखू (1995), लिबरलिज्म एंड कोलोनियलिज्म : अ क्रिटिक ऑफ लॉक एंड मिल, पीटरसे, जन नेडरविन और भीखू पारिख द्वारा संपादित, डिकोलोनाइजेशन ऑफ इमेजिनेशन : कल्चर, नॉलेज एंड पावर पुस्तक से, लंदन, जेड बुक्स लिमिटेड, पृष्ठ-81
12. वही

से नहीं है। साम्राज्यवाद की आलोचना भर से यह बात समाप्त नहीं होती है। किस प्रकार और कितने धन का स्थानान्तरण उपनिवेशों से सम्राज्यवादियों के यहाँ हुआ, उसका जो भी साक्ष्य है; उसमें प्रमाण और अनुमान दोनों का सम्मिश्रण है। उदाहरण के लिए दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' (1901) में यह अनुमान लगाया कि भारत से 200-300 मीलियन पाउंड्स ब्रिटेन स्थानान्तिरत हुआ। नौरोजी से पूर्व महाराष्ट्र के स्वदेशी चिंतक भास्कर पांडुरंग तर्खंडकर ने बम्बई गजट में सात पत्रों की श्रृंखला प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने दूसरे पत्र में भारतीय पूँजी (Capital) लंदन जाने के बारे में आंकड़ा प्रस्तुत किया था।[13] इसीलिए पश्चिमी और गैरपश्चिमी देशों के बीच विकास के अधिष्ठान को सामने रखकर तुलना करना पश्चिम के कुछ ही दशकों पूर्व उपनिवेशों के लूट-खसोट पर पर्दा डालकर सिर्फ उनके चकाचौंध को एकमेव सत्य मानने जैसा होगा। पहले के 'व्हाइट मैन बर्डेन' के सिद्धान्त से हटकर उत्तर साम्राज्यवादी युग में एक नए सिद्धांत की उन्होंने नींव डाली है कि पिछड़े देशों को विकसित करना पश्चिम की जिम्मेदारी है।

दूसरा कारण है कि पश्चिम ने नीतियों, दर्शन और राजनीति के द्वारा जहाँ एक ओर शोषण, लूट और अत्याचार पर पर्दा डालने का काम किया है, वहीं उन्होंने समकालीन दुनिया में 'हम' (Self) और 'दूसरे' (Others) के भेद को स्थाई बनाने की कोशिश भी की है। वे पूर्व औपनिवेशिक देशों के लोगों को 'दूसरे' अर्थात् कम विकसित मानते हैं। इसमें वे लोगों की आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तीनों प्रकार के पिछड़ेपन को दिखाते हैं। ऐसा करने के लिए उन्होंने उन देशों में ऐसी संस्थाओं, प्रक्रियाओं और बुद्धिजीवियों को मजबूत किया है, जो स्वाभाविक ढंग से पश्चिम की सर्वोच्चता, गुण-सम्पन्नता और नेतृत्व को स्थापित करने के लिए अपने ही समाज के भीतर उनके वाहक (Agent) का काम करते हैं। पश्चिम ने बौद्धिक अस्त्र का उपयोग अपने आधिपत्य को जारी रखने के लिए किया है इसे समझने की आवश्यकता है।

औपनिवेशिक काल में साम्राज्यवादी सोच-समझ, संस्कृति, भाषा और दृष्टिकोण को आम लोगों पर आरोपित करने का प्रयास हुआ था और उसका विकेन्द्रीकृत तरीके से प्रतिकार भी होता रहा है। लेकिन सत्ता-हस्तांतरण के बाद राष्ट्रों को मिली आजादी में सम्पूर्णता का बोध नहीं हुआ। नए शासकों ने पूर्व साम्राज्यवादी देशों के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया, उससे ऐसा प्रतीत हुआ मानो औपनिवेशिक काल में कोई अनर्थ,

13. कुलकर्णी, ए.आर., एन.के. वागले, रिजन नेशनलिटी एंड रीलिजन, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई, 1999, पृष्ठ-128

अन्याय और लोगों की अवमानना ही नहीं हुई थी। इसीलिए स्वतंत्रता-आंदोलन के लिखे गए इतिहास में उपनिवेशों पर जिस प्रकार का दमन, अन्याय और अमानवीयता का व्यवहार हुआ था उस पर लीपापोती कर दी गई। साम्राज्यवादी दमन का आंशिक सत्य भी स्वतंत्रता-आंदोलन के इतिहास में नहीं आया। इसके पीछे पश्चिम की एक सुनियोजित साजिश थी और इस साजिश में स्वतंत्र राष्ट्रों का नव कुलीन तबका शामिल था और जिन लोगों ने इतिहास के सही तथ्य को लाने की कोशिश की उन्हें मुख्य धारा का हिस्सा नहीं माना गया। ब्रिटेन सहित अन्य सभी साम्राज्यवादी देशों ने अपने पूर्व उपनिवेश के देशों में अकादमिक बहुमतवाद (Academic Majoritarianism) का उपयोग राष्ट्रवादी इतिहास का दमन करने में किया। दुर्भाग्य से आजादी से पूर्व और बाद की दोनों स्थितियों में यूरोप स्वतंत्र देशों के कुलीनों के लिए वैधता का एक माध्यम बन गया, इसलिए स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास लिखने वालों में अधिकांश स्वयं ही एक लक्ष्मण रेखा खींचकर उन्हीं बातों को आगे बढ़ाया जो पूर्व साम्राज्यवादियों के समकालीन चिंतकों को हजम हो सके। इस दुर्भाग्य की स्थिति में भारत भी अपवाद नहीं है। उदाहरण के लिए प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सेना में भर्ती किए गए भारतीयों के साथ दोहरा व्यवहार, उनके प्रति नस्लवादी दृष्टिकोण, भारत के संसाधनों का लूट-खसोट, अपनी स्वतंत्रता के लिए आग्रह कर रहे अहिंसक बच्चों की गोली मारकर हत्या[14], नाबालिग क्रांतिकारियों को फांसी की सजा[15], जालियांवाला बाग कांड का विलेन जनरल डायर के समर्थन में ब्रिटिश संसद में

---

14. 11 अगस्त, 1942 को पटना सचिवालय के गुम्बद पर तिरंगा झंडा फहराने के लिए कृतसंकल्प जिन सात लोगों की शहादत हुई थी वे सभी स्कूली विद्यार्थी थे। उमाकांत प्रसाद सिन्हा, रामानन्द सिंह, देवीपाद चौधरी और रामगोविन्द सिंह नौवीं कक्षा के छात्र थे जबकि सतीश प्रसाद झा और राजेन्द्र सिंह दसवीं कक्षा के छात्र थे। वहीं जगतपति कुमार 11वीं कक्षा में पढ़ते थे। पटना के जिलाधीश विलियम यार्चर ने जब एक-एक करके इन पर गोली चलाने का आदेश दिया तो शायद असंवेदनशीलता भी साम्राज्यवादी क्रूरता के सामने पिघल गई होगी। इन सात बच्चों का नाम और उनकी पृष्ठभूमि इतिहास के किस पुस्तक में वर्णित है? यह अपने-आप में एक शोध का विषय है। ऐसे लोगों की कोई सूचीबद्ध अध्याय इतिहास की पुस्तक में नहीं है जिनकी उम्र 18 वर्ष से कम रही है और उनकी क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण उन्हें फांसी की सजा दी गई। न ही भाषाई अखबारों की भूमिका को उचित एवं उनकी गतिविधियों के अनुपात में उनकी प्रस्तुति हुई है।

15. सन् 1907 में खुदी राम बोस को तब फांसी दी गई जब वे मात्र 18 वर्ष के थे। बादल गुप्ता और गोपीनाथ साहा को 1924 में फांसी दी गई। वे दोनों भी 18 वर्ष के थे। हेमू कालानी और करतार सिंह सारभा को 19 वर्ष की आयु में फांसी दी गई। प्रफुल्ल चाकी को 20 वर्ष की उम्र में फांसी दी गई। वहीं मनोरंजन भट्टाचार्य (22 वर्ष), प्रद्यूत कुमार भट्टाचार्य (20 वर्ष), बसंत कुमार विस्वास (20 वर्ष), प्रमोद रंजन चौधरी (22 वर्ष), कानू लाल दत्ता (20 वर्ष), हुतात्मा अनंत लक्ष्मण कानहेरे (18 वर्ष) और बाजी राउत (12 वर्ष) को भी फांसी दी गई।

फ्रैंट्ज़ फैनन

मतदान और उसके लिए एक प्रमुख अखबार के द्वारा धन संग्रह[16], स्वतंत्रता सेनानियों से बदला लेने के लिए महिलाओं के सम्मान पर बर्बर और असभ्य प्रहार[17], सामान्य और दबे-कुचले परिवारों के संघर्षरत्त शहीदों की दास्तान, क्रांतिकारियों के असीम त्याग और उनपर हुई साम्राज्यवादी जुल्म की वास्तविकता पूर्ण या आंशिक रूप से अवर्णित है।[18] पूर्व साम्राज्यवादियों के साथ एक भ्रामक एकता और सद्भाव की भावना उन साम्राज्यवादियों से प्रताड़ित लोगों के मन में पैदा किया गया। कॉमनवेल्थ (Commonwealth) जैसे संगठन का निमार्ण और उसके प्रति समर्पण उसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। औपनिवेशिक ताकतों के द्वारा जिस बर्बरता के साथ लोगों पर अत्याचार होता था उस तथ्य को छिपाया गया और आंशिक प्रस्तुति की गई। उस दौरान जो 'संवैधानिक विकास' और 'सुधार' हुआ तथा लोगों को जो 'मोहलत' दी गई उसे प्रमुखता से उभारा गया। इसलिए साम्राज्यवाद का शालीनता से विरोध करने वाले सभ्य एवं अच्छे माने गए, हिंसा और उग्रता से उस व्यवस्था पर प्रहार करने वालों को मुख्यधारा से बाहर का माना गया। आखिर जनरल डायर की हत्या की योजना बनाने वाला यदि उसे अंजाम दे देता तो कैसे वह मुख्यधारा के प्रतिकूल होता? फ्रैंट्ज़ फैनन ने ठीक ही लिखा

16. ब्रिटेन के हाउस ऑफ लॉड्स में जनरल डायर के संदर्भ में उन सभी लोगों के लिए निंदा का प्रस्ताव लाया गया जो जालियांवाला कांड में शामिल थे। तब इसके समर्थन में मात्र 132 वोट मिले जबकि विपक्ष में 239 वोट मिले। ब्रिटेन के अखबार मॉर्निंग पोस्ट ने जनरल डायर को आर्थिक सहायता देने के लिए 25 हजार पाउंड्स इक्ट्ठा किया था।
17. महाराष्ट्र के आष्टी और चिमूर नामक स्थानों पर जब 1942 में वहां के नौजवानों ने संघर्ष किया तब साम्राज्यवादी सरकार ने उन गांवों के सभी पुरुषों को या तो हिरासत में ले लिया या बाकी भूमिगत हो गए। तब ब्रिटिश प्रशासन की सहमति से पुलिस ने महिलाओं के साथ जिस बर्बरता का प्रदर्शन किया। उसमें छोटी बालिका से लेकर गर्भवती महिला भी अपने सम्मान को नहीं बचा पाई।
18. उत्तर प्रदेश में समाज के अत्यंत ही पिछड़े वर्ग पासी जाति की निर्धन महिला उदा देवी ने 1857 में लखनऊ में ब्रिटिश सेना के 35 जवानों को मार गिराया था। इसके पहले उनके पति की शहादत हो चुकी थी। ऐसे लोग इतिहास के पुस्तक में अवर्णित हैं।

है कि "उपनिवेशवाद कोई विचार प्रणाली नहीं है और न ही यह सभ्य और विवेक आधारित कार्य करने वालों की कोई जमात है। यह अपने स्वभावत: हिंसा पर आधारित एक व्यवस्था है।[19] एक दूसरे चिंतक अल्बर्ट मेम्मी ने अपनी पुस्तक 'द कोलोनाइजर एंड द कोलोनाइज्ड' में इसी बात को आगे बढ़ाते हुए लिखा है कि साम्राज्यवादियों के द्वारा 'उपनिवेशों पर विजय हिंसा के रास्ते से हुई और बाद में उनका अति-शोषण और दमन ने साम्राज्यवादियों की हिंसा को जारी रखने के लिए बाध्य कर दिया। इसमें विरोधाभास नहीं होता यदि दुनिया के सभी हिस्सों में हिंसा के आधार पर ही शासन काम करता, लेकिन हकीकत तो यह है कि साम्राज्यवादी स्वयं अपने देश में लोकतांत्रिक अधिकारों के आधार पर चल रहे थे। लेकिन यही अधिकार उन्होंने उपनिवेश के लोगों को नहीं दिया था।[20] हिंसा का जिस स्तर पर तांडव हुआ उसमें किसी भी प्रकार के प्रतिरोध का जवाब गोली मारकर हत्या होती थी। उदाहरण के लिए ढेकियाजुली (असम) में 13 सितम्बर, 1942 को तेरह निहत्थे स्वतंत्रता-सेनानियों को बिना किसी उत्तेजना के पुलिस ने गोली मारकर हत्या कर दी। ये शहीद भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के समर्थक थे और अहिंसा-मार्गी थे। आंध्र प्रदेश में 12 अगस्त, 1942 को ब्रिटेन की पुलिस ने सात अहिंसक स्वतंत्रता सेनानियों को गोली मारकर हत्या कर दी।[21]

दमन का स्वरूप साम्राज्यवाद के सभी हिस्सों में प्राय: एक जैसा था। डेविड डिऑप ने बेहतरीन तरीके से उपनिवेशवादियों के चरित्र का वर्णन अपनी निम्नलिखित कविता में की है -

"श्वेत लोगों ने मेरे पिता की हत्या की
क्योंकि मेरे पिता अभिमानी थे
श्वेत लोगों ने मेरी माँ का बलात्कार किया
क्योकि मेरी माँ सुन्दर थी
श्वेत लोगों ने चिलचिलाती धूप में सड़क पर मेरे भाई के वस्त्र उतारे
क्योंकि मेरा भाई ताकतवर था
इसके बाद श्वेत लोग मेरे पास आए
उनके हाथों में खून का धब्बा था
मेरे काले चेहरे की अवमानना की

---

19. फैनन, फ्रैंट्ज़, 1963, 'द रेचेड ऑफ द अर्थ', न्यूयॉर्क, ग्रोव प्रेस, पृष्ठ-61
20. मेम्मी, अल्वर्ट, 'द कोलोनाइजर एंड द कोलोनाइज्ड', बॉस्टन, बेकन प्रेस, पृष्ठ- 20
21. मजेटी सुब्बाराव, श्रीग्री लिंगम, लक्ष्मीनारायण, तम्मीनानी सुब्बा रेड्डी, गली रामकोटियाह, प्रज्ञा राघवैय्या और जस्ती अपैय्या

अपने अताताई आवाज में कहा :

ये लड़के, एक बेसिन, एक तौलिया और पानी" ।[22]

हमारे सामने दो प्रश्न हैं, जो एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। पहला, जब आज दुनिया वैश्वीकरण की तीव्र प्रक्रिया से गुजर रही है, तब औपनिवेशिक संघर्ष की पुनर्समीक्षा की आज क्या जरूरत है? इसी से दूसरे प्रश्न का जन्म होता है कि वर्तमान पर उपनिवेशवाद का कितना प्रभाव है और क्या उपनिवेशवाद मुक्ति का उपक्रम विचार, संस्कृति, भाषा और मानसिक संरचना के स्तर पर पूरी हो चुकी है? इन दोनों प्रश्नों का विश्लेषण हमें इस बात का भी आभास कराता है कि वैश्वीकरण का जो वर्तमान दौर है वह औपनिवेशिक संस्कृति और विचार से विमुक्तिकरण की प्रक्रिया को इस प्रकार रोकता है कि इसके वैकल्पिक आवाज को यूरोप और अमेरिका के बुद्धिजीवी उसी प्रकार से हीन ग्रंथि वाला घोषित करते हैं जैसे उपनिवेशवाद के दौरान राष्ट्रीय संस्कृति की बात करने वालों के साथ वे करते थे।

क्या यह प्रश्न अब भी संशय के दायरे में है कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता स्वयं में सम्पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। उपनिवेशवाद सिर्फ भौतिक संसाधनों पर जबरन कब्जा तथा राज्य और राजनीति पर विदेशी सत्ता का नियंत्रण मात्र नहीं था, बल्कि यह स्थानीयता जिसे हम देशज संस्कृति कह सकते हैं, जो व्यक्तित्व को अपने भूगोल, इतिहास, परिवेश और आकांक्षाओं के संदर्भ में ढालती और परिभाषित करती है एवं उसे और उसके समाज को एक पहचान देती है, उस पर नियंत्रण था। वास्तव में उपनिवेशवादी उपक्रम देशज संस्कृति को नष्ट करने का भी एक बड़ा अभियान था जिससे स्थायी 'दास भाव' पैदा किया जा सके। इसका एक बड़ा उदाहरण भारत के वनवासियों का है। उनकी अपनी एक जीवन-शैली, प्रकृति से निकटता और प्रेम का वैशिष्ट्य रहा है। उनके जीवन शैली में कई

---

22. डिऑप, डेविड, 'ले टेम्प्स डु मार्टर', इसे फ्रैंट्ज फैनन ने उद्धृत किया है। नायर, के. प्रमोद द्वारा सम्पादित 'पोस्ट कोलोनियल स्ट्डीज : एंड एंथोलॉजी', 2016, सुसेक्स, विलि ब्लैक वेल, पृष्ठ-29

अंग्रेजी कविता-

"The white man killed my father
Because my father was proud
The white man raped my mother
Because my mother was beautiful
The white man
Wore out my brother in the hot sun of the roads
Because my brother was strong
Then the white man came to me
His hands red with blood
Spat his contempt into my black face
Out of his tyrant's voice:
Hey boy, a basin, a towel, water".

प्रकार की न्यूनताएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं और सुधार की आवश्यकता और संभावनाओं को तलाशा जा सकता है। परन्तु, ब्रिटेन के नौकरशाहों और मिशनरियों ने उन्हें जिस रूप में पारिभाषित किया है वह यूरोप की वर्चस्ववादी मानसिकता का सबसे अच्छा उदाहरण है। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारतीय वनवासियों को जंगली, असभ्य, बर्बर और अबौद्धिक समुदाय मानकर उनका एक विशिष्ट नामकरण किया। भारत में जो जनगणना सन् 1872 में शुरू की गई उसमें उन्हें जीववादी (Animist) की संज्ञा दी गई। ऐसा मानकर उनकी आध्यात्मिक पद्धति तथा जीवन-दर्शन को नष्ट करने का निरंतर प्रयास होता रहा। उन्हें सन् 1911 तक 'जीववादी' ही कहा गया। सन् 1921 की जनगणना में उन्हें 'जनजाति' (Tribe) की संज्ञा दी गई। इन दोनों नामों के पीछे उन्होंने इतिहास और मानवशास्त्र (Anthopology) के सिद्धांतों का सहारा लेते हुए यूरोप के बर्बर और असभ्य जातियों, जिन्हे Tribes कहा जाता था के समानार्थक घोषित किया गया। सन् 1872 से सन् 1941 तक के आठ जनगणना रिपोर्टों के अध्ययन से यह पता चलता है कि वे वनवासियों को हीन मनुष्य मानते थे, तभी जिन पुरोहितों ने उनके लिए कर्मकांड और आध्यात्म का काम किया उन्हें साम्राज्यवादियों ने 'गिरे हुए ब्राह्मण' (Degraded Brahmins) की संज्ञा दी थी।[23] आजादी के बाद अंग्रेजों के द्वारा स्थापित और वर्णित सिद्धांतों को जिस अनुपात में चुनौती मिलनी चाहिए थी और अपनी दृष्टि से सामाजिक एवं सांस्कृतिक वर्गों के इतिहास का मूल्यांकन होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया। किस प्रकार से पूर्व उपनिवेशवादियों ने स्वतंत्र देशों के बुद्धिजीवियों को मानसिक रूप से गुलाम बनाकर अपना बौद्धिक अनुगामी बनाकर रखा यह बात समाजशास्त्री आशीष नंदी ने अपनी पुस्तक में वर्णन किया है।[24] इन उपनिवेशवादियों ने मनोवैज्ञानिक तौर-तरीकों का उपयोग उपनिवेश के लोगों को अधीनस्थ रखने के लिए किया और इसका नैतिक औचित्य भी ढूंढ लिया था। वे अपने देशों में अपने द्वारा किए गए क्रूर दमन के औचित्य को भी स्थापित करते रहे हैं। उन्होंने स्थानीय संस्कृति को नीचा दिखाने का काम किया और अपने आपको ऊँची नस्ल और जाति का बताने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उपनिवेशवाद एक विचार प्रणाली है, जो समय और संदर्भ एवं स्वार्थों की प्राथमिकता तथा स्थानीय लोगों की शोषण और आधिपत्य विरोधी चेतना तथा उनके प्रतिकारों की ताकतों को देखते हुए अपने आपको बदलता रहता है। इसका आज के संदर्भ में मूल उद्देश्य पूर्व उपनिवेश के देशों के साहित्य, समाजशास्त्र, संस्कृति को मौलिक नहीं

23. जनगणना रिपोर्ट, भारत, 1921

24. नंदी, आशीष, 1983, 'द इंटिमेट एनेमी : लॉस एंड रिकवरी ऑफ सेल्फ अंडर कोलोनियलिज्म', नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

होने देना और उन्हें यूरोप-निष्ठ बनाकर रखना है। वे इसमें संस्कृति और बौद्धिकता का नेतृत्व अपनी हाथों में रखना चाहते हैं और इसमें वे सफल भी रहे हैं। यह नेतृत्व उन्हें आर्थिक शोषण और विकास की संरचना के अन्तर को बनाए रखने के औचित्य को स्थापित करता है। जब मनुष्य वैचारिक रूप से दूसरे मनुष्य के विचारों संस्कृति और तौर तरीकों को ग्रहण कर लेता है तब वह ताकतवर के विकास और जीवनशैली की परिभाषा को भी ग्राह्य मान लेता है। तब उसका शोषण, दमन और विषमतामूलक व्यवस्था के खिलाफ लड़ने की शक्ति और मनोबल का स्वयमेव क्षरण हो जाता है। व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, समाजवाद, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, नवउदारवाद- ये सभी सिद्धांत पश्चिम से ऊपजे हैं और पूर्व के देशों को उसी सैद्धांतिक परिवेश में अपने-अपने कालखंडों में समाहित करने की कोशिश करते रहे हैं। इन सिद्धांतों के प्रभाव को स्थानीय संदर्भ में समझना, उनका स्थानीयकरण करना, उनका प्रतिकार आदि की स्थिति में स्थानीय मौलिकता का भी स्वयमेव क्षरण हो जाता है। फ्रैंट्ज़ फैनन ने लिखा है कि साम्राज्यवाद अपने पीछे जिन 'विनाशकारी विषाणुओं' को छोड़ जाता है उसे हमें सूक्ष्मता से पहचान कर अपने देश और मन-मस्तिष्क दोनों से पूरी तरह से बाहर निकाल देना चाहिए। ब्राजील के पॉउले फ्रेइरे (1921-1997) ने इसी बात को एक दूसरे ढंग से रखा है। उनका मानना है कि जो लोग दबे-कुचले और प्रताड़ित होते हैं, उनमें स्वाभाविक रूप से दमन करने वाले के सांस्कृतिक और बौद्धिक छवि को प्रतिबिम्ब बनने की लालसा होती है। इस प्रवृत्ति को खत्म करने के लिए उन्होंने जिस अभियान को आवश्यक माना उसे 'मुक्ति साक्षरता' (Liberation Literacy) की संज्ञा दी है। जाहिर है कि राजनीतिक उपनिवेशवाद से विमुक्ति की प्रक्रिया मस्तिष्क के सांस्कृतिक आधिपत्य से कम चुनौतीपूर्ण नहीं है। विमुक्त होकर ही हम अपने विचारों का सृजन कर सकते हैं और अपनी पहचान को स्वपरिभाषित कर सकते हैं। यह कहना अत्यंत नादानी होगी कि अनौपनिवेशीकरण या औपनिवेशिक संस्कृति से विमुक्तिकरण की प्रक्रिया व अपाश्चात्यिकरण पश्चिम का अंधा विरोध या उसके प्रति घृणा के भाव से प्रेरित है। यह तो मात्र आरोपित विदेशज से देशज बनने की और दुनिया के वैचारिक परिवेश में अपनी दृष्टि और अपनी समझ के साथ खड़े होने की प्रक्रिया है। इसमें सकारात्मकता है। फ्रैंट्ज़ फैनन ने ठीक ही कहा है 'अनौपनिवेशीकरण बिना सूचना के नहीं घटित होता है। यह व्यक्तियों पर छाप छोड़ता है और उनमें बुनियादी सुधार लाता है'।[25]

25. फैनन, फ्रैंट्ज़, 1963, 'द रेचेड ऑफ द अर्थ', पृष्ठ-36

उपनिवेशवाद का मूलभूत वैचारिक आधार यह है कि दुनिया में दो प्रकार के देश हैं। पहला, वे देश जो आर्थिक, सांस्कृतिक और सभ्यताई रूप से सम्पन्न हैं और दूसरा, वे जो इन सभी क्षेत्रों में पिछड़े हुए हैं। इस क्रम में वे विकास से लेकर संस्कृति तक की परिभाषा और मापदंड अपने अनुभवों, संदर्भों और मापदंड के द्वारा निर्धारित करते हैं। स्थानीय या उपनिवेश के लोगों की कोई बौद्धिक भागीदारी या हस्तक्षेप जो उनकी बुनियादी मान्यताओं के विपरीत हो उन्हें स्वीकार्य नहीं होता है। ऐसे भेद को संस्थागत करके वे लोगों के मन में दो भिन्न प्रकार की भावनाएँ भरते हैं। जिन्हें वे सभ्य और सांस्कृतिक व आर्थिक रूप से विकसित मानते हैं, उनके मन में श्रेष्ठ होने की भावना एकाधिकार के रूप में प्रवेश कर जाती है। दूसरी तरफ जिन्हें वे पिछड़ा मानते हैं उनके मन में हमेशा कथित रूप से श्रेष्ठ लोगों के जैसा बनने, उनका अनुकरण करने, उनकी प्रशंसा पाने की लालसा और भावना भर दी जाती है। इसी क्रम में दोनों के बीच सम्बन्धों की शब्दावली बदलती रहती है। कभी वे विजेता और पराजित, तो कभी औपनिवेशिक शासक और शासित, तो कभी सभ्य व असभ्य, तो कभी विकसित और अविकसित, तो कभी प्रथम विश्व और तृतीय विश्व जैसे विभाजनकारी शब्दों के द्वारा परिभाषित होते हैं। पश्चिम की जो विचारधारा ऊपजी है उसका अपने इतिहास, भूगोल, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जटिलताओं से गहरा सम्बन्ध रहा है। इन विचारधाराओं में गैर पश्चिम के देशों के लोगों का अनुभव और सामाजिक-आर्थिक यथार्थ सम्मिलित नहीं है। विस्तारवादी प्रवृत्ति उन सभी समाजों में होती है जो भौतिकता और संसाधनों की जमाखोरी को अपना पहला और अंतिम उद्देश्य मानती हैं। सेंट अगस्टाइन (354-430 ईस्वी) पश्चिम के ईसाई जगत के तत्कालीन युग में सबसे सम्मानित ईसाई पादरियों में से एक थे। उन्होंने रोमन साम्राज्य के विस्तारवाद के नैतिक औचित्य को स्थापित किया था। उन्होंने कहा था कि "अपने मातहत देशों (Subdued Nations) के विरुद्ध युद्ध करना और अपने शासन का विस्तार करना बुरे लोगों के लिए तो आनंद की बात है लेकिन अच्छे लोगों के लिए यह अनिवार्यता है।"[26] यही इस बात को दर्शाता है कि उपनिवेशवाद को सिर्फ आधुनिक संदर्भ के रूप में या मार्क्सवादी चिंतक व्लादिमीर लेनिन (1870-1924) के द्वारा आर्थिक व्याख्या के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता है। लेनिन ने कहा था कि "उपनिवेशवाद पूंजीवाद की सबसे उच्चतम श्रेणी है (Imperialism is the highest stage of capitalism)।" उपनिवेशवाद को सभ्यता, अध्यात्म, समाज की प्रकृति, मनुष्य का स्वभाव

26. हैगरमेन, सी.ए 'ब्रिटेन्स् इम्पीरियल न्यूज : द क्लासिक्स इम्पीरियलिज्म एंड द इंडियन एम्पायर', 1784-1914 में उद्धृत, पलगरवे मैकमिल्लन, लंदन, पृष्ठ- 85

और उनके दर्शन के संदर्भ में समझने का जब प्रयास होगा तभी हम विभिन्न चरणों में पूर्व उपनिवेशवादियों और पूर्व उपनिवेशों के बीच बदलते सम्बन्धों को समझ सकते हैं। इस प्रकार अनौपनिवेशीकरण भी एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है लेकिन उनमें पूर्ण एकरूपता नहीं हो सकती है। औपनिवेशिक संस्कृति और विचारों से विमुक्तिकरण की प्रक्रिया, प्रकृति और उसका परिणाम जो अफ्रीका में होगा वैसा ही लैटिन अमेरिका या भारत में हो, ऐसा नहीं है। स्थानीय लोगों की सांस्कृतिक जड़ें एवं सभ्यताई इतिहास उनके अपने सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना, अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया, प्रकृति और परिणामों को निर्धारित करती हैं। अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और एशिया के देशों की विमुक्तिकरण की प्रक्रिया और प्रकृति में अनेक आधारभूत समानताएँ हैं तो विषमताएँ भी मौजूद रहती हैं। इसीलिए इसके अध्ययन में तुलनात्मक और ऐतिहासिक तौर-तरीकों को अपनाना चाहिए।

दुनिया भर के पूर्व उपनिवेश के देशों में 'मस्तिष्क का अनौपनिवेशीकरण' पर विमर्श होता रहा है। इसका साधारणतया अर्थ तो स्थानीय चिंतन प्रणाली और प्रक्रिया में व्याप्त दासत्व के भाव को एवं यूरोपनिष्ठ बनकर समझने और बोलने की शैली को समाप्त करना है। हालाँकि यहाँ यह बात कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ब्रिटेन के लाख प्रयास करने के बावजूद भारतीय मन से चार सौ वर्षों के दौर में देशज भाव समाप्त नहीं हो पाया। सामान्य लोगों ने अपने आध्यात्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का निर्धारण अपनी भौगोलिक सीमा की सांस्कृतिक विरासत, भाषाई उपलब्धियों और बौद्धिक सम्पदा को ही संदर्भ बनाकर करते रहे हैं। लेकिन यह भी सच है कि देश के एक बड़े बौद्धिक जगत, जो अंग्रेजी भाषा, साहित्य, यूरोपीय सामाजिक दर्शन और उनके समकालीन बुद्धिजीवियों के प्रति समर्पण का भाव रखकर काम करता रहा है तथा जिसके कारण उन्होंने यह आत्मसात कर लिया है कि यूरोपीय चिंतन ही विचार जगत का सूर्य है और हम उसके ही प्रकाश में अपनी बौद्धिकता, विवेक और भावना तथा यहाँ तक कि व्यावहार-प्रणाली को आगे बढ़ा सकते हैं। यह सिर्फ बौद्धिक आलस्य नहीं है, और न ही पराजय है, बल्कि स्व-अर्जित दासता है, जो उन्हें सीमित दायरे में बुद्धिजीवी होने और बौद्धिक शौर्य का प्रदर्शन करने का अवसर देती है। दासता में मौलिकता का अभाव होता है। इसमें स्वामी के प्रति घोर प्रतिबद्धता होती है। स्वामी की आलोचना में कभी भी स्वामी के अस्तित्व को चुनौती नहीं दिया जा सकता है। यह सब भारत के समाजशास्त्र में और बौद्धिक जगत में दशकों से आधिपत्य जमाए चिंतकों में देखा जा सकता है। जो यूरोप की बौद्धिकता को चुनौती देते हैं और उन्हें अपना वैचारिक नेतृत्व करने वाला नहीं मानते हैं, उनमें भी समकालीन विश्व को देने के लिए वैकल्पिक सामाजिक,

सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक दर्शन के तत्व यूरोप के ही अधिष्ठानों से उधार लिया हुआ या चुराया हुआ होता है। इसलिए यूरोप वाद और प्रतिवाद दोनों की बौद्धिक सामग्री दे रहा है। यही उसे विचारों की दुनिया का राजा बना देता है। वास्तव में मूल समस्या यूरोप की आलोचना नहीं बल्कि अपने आप को देखने-समझने, अपने विरासत को परखने, अपने सांस्कृतिक प्रवाह का मूल्यांकन करने और अंत में विचारों के आधार पर अपनी पहचान निर्धारित करने का आधार क्या हो, इसका उत्तर ढूँढ़ने का है। हिन्दी साहित्य के साथ-साथ सभी भारतीय भाषा साहित्यों ने अपने जड़-जमीन, समाज-संस्कृति और भूत-वर्तमान आदि को प्रस्तुत करने का निरंतर काम किया है। लेकिन अंग्रेजी के वर्चस्व और बाद में मार्क्सवादियों का साहित्य पर प्रभाव ने देशज साहित्य को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित होने, प्रसारित होने और प्रभावकारी होने में गुणात्मक स्तर पर तो नहीं परन्तु संरचनात्मक स्तर पर अवश्य अवरोध पैदा किया है। अतः उनकी गुणात्मकता पर बादल छाया रहा। दुर्भाग्य से स्वतंत्रता के पश्चात भारत की राजनीतिक व्यवस्था ने अंग्रेजी भाषा के महत्व के साथ-साथ अंग्रेजी कुलीनता को, यूरोपीय मान-मर्यादा और शैली को-सम्मान सूचक बनाने का काम किया है और इसने भारत की विचार-प्रणाली में मौलिकता को हटाकर कार्बन कॉपी को प्रस्थापित किया है।

भारत की ज्ञान-परम्परा और उसकी उपलब्धियों की बात करना मानो मुख्य धारा के विपरीत बौद्धिक प्रदर्शन जैसा हो गया। उदाहरणार्थ जब भी विरासत के सन्दर्भीकरण की बात की गई और भारत की पहचान पूर्वजों के बौद्धिक योगदान के आईने में देखने की कोशिश हुई उसे यूरोपनिष्ठ बुद्धिजीवियों ने हँसी का पात्र बनाया।[27] कौटिल्य के अर्थशास्त्र को शाम शास्त्री ने 1909 में पुनर्प्रकाशित किया था लेकिन भारतीय ज्ञान परम्परा की इस महत्वपूर्ण रचना को बौद्धिक विमर्श के केन्द्र और पाठ्यपुस्तक में आने में संघर्ष करना पड़ा। आर्यभट्ट, बौधायन, ब्रह्मगुप्त, भास्करचार्य, कणाद, नागार्जुन, सुश्रुत वराहमिहिर जैसे भारतीय चिंतकों और विद्वानों की उपयोगिता सामान्य ज्ञान के प्रश्नोत्तरी तक सीमित कर रखा गया है। उनके योगदानों और उपलब्धियों को भारतीय सभ्यताई संदर्भ में न समझा गया और न ही पश्चिम की ज्ञान परम्परा के सामने इसका सैद्धांतीकरण किया गया। हम अपनी इन उपलब्धियों को साधारणतया पश्चिम के विद्वानों के द्वारा वर्णित एवं उल्लेखित संदर्भों के आधार पर ही उपयोग करते रहे हैं।

---

27. भारत में शून्य (Zero) की जानकारी, दशमलव प्रणाली, आण्विक सिद्धांत, प्लास्टिक सर्जरी, आयुर्वेद इत्यादि के महत्व को आजादी के बाद इतिहासकारों एवं समाजशास्त्रियों के द्वारा अंशतः या पूर्णतः नकारा जाता रहा है।

जब पश्चिम की ज्ञान प्रणाली उन्हें प्रामाणिकता का प्रमाण-पत्र देकर उद्धृत करता है तब हम उसे अपनी उपलब्धि मान बैठते हैं। पश्चिम के सभ्यताई उपक्रम के तहत भारत की पहचान को सभ्यताई निरंतरता में नहीं देखकर संवैधानिक सुधारों की औपनिवेशिक काल की प्रक्रिया के संदर्भ में देखने और दिखाने की कोशिश होती रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत की पहचान राजनीतिक विमर्शों में ढूंढा जाने लगा। यह भ्रमित करने वाला साबित होता रहा है। सभी देशों की एक अपनी दार्शनिक पहचान होती है चाहे वे अफ्रीका के देश हों या लैटिन अमेरिका के। औपनिवेशिक काल में उस पहचान से स्थानीय लोगों को अलग करने की कोशिश हुई है। उदाहरण के लिए अफ्रीका का दार्शनिक भाव जिस शब्द से अभिव्यक्त होता है उसको 'उबन्तु' (Ubuntu) बोलते हैं। यह मानवीयता, संवेदनशीलता और सह-अस्तित्व की भावना से ऊपजा हुआ एक सूत्र है। इसका अर्थ होता है 'मैं इसलिए हूँ कि तुम हो' (I am because you are)। लेकिन अफ्रीका के लोगों को इस दर्शन के विपरीत अनुभव औपनिवेशिक शासनकाल के दौरान हुआ। उनके मन में उपनिवेशवाद ने अमानवीय एवं बर्बर तरीके से लोगों को अस्तित्व के संकट में डालकर घोर व्यक्तिवादी, व्यवस्था परावलंबी और असामाजिक बनाने की कोशिश की। क्या यह सब सिर्फ राजनीतिक आधिपत्य या आर्थिक शोषण का ही परिणाम था? कदापि नहीं। यह एक सभ्यताई संघर्ष का हिस्सा था जो स्थानीयता को अपना सहयोगी, संसाधन मात्र और चिंतनहीन बनाकर रखना चाहता है। इसलिए अफ्रीकी विचारक न्गुगी वा थ्योंगो ने औपनिवेशिक नीतियों और व्यवहार को 'सांस्कृतिक बम' (Cultural Bomb) की संज्ञा दी है। इस सांस्कृतिक बम का विध्वंसक प्रभाव एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों में अलग-अलग तरह से भिन्न-भिन्न अनुपातों में हुआ है।

II विचार और संस्कृति का स्वराज

I

अनौपनिवेशीकरण का दर्शन दो चिंतकों के विचारों और अनुभवों से उभरकर सामने आता है। पहले हैं अफ्रीका के साहित्यकार न्गुगी वा थ्योंगो और दूसरे भारत के दार्शनिक कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य। दोनों ने ही अपने परिवेश, सांस्कृतिक विरासत और इतिहास के साम्राज्यवादी दमन और उसके सांस्कृतिक, मानसिक दुष्परिणामों और आने वाली पीढ़ियों में आत्मग्लानि और अन्य सांस्कृतिक विचारों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उपनिवेशवाद अपने नि:शब्द सांस्कृतिक आक्रमण से पहले तो मनुष्य के आत्म विश्वास पर प्रहार करता है और बाद में उसे अपनी नई पहचान प्राप्त करने का एक पथिक बना देता है, यह पहचान उसे वास्तव में मौलिक मनुष्य से दूसरे द्वारा आरोपित चेतना वाले मनुष्य में परिवर्तित कर देता है। न्गुगी और के.सी. भट्टाचार्य के चिंतन के बीच चार दशकों का अंतर है लेकिन दोनों में मौलिक समानता है।

उत्तर औपनिवेशिक काल में सांस्कृतिक और वैचारिक उपनिवेशवाद से मुक्ति का सबसे प्रभावी हस्तक्षेप सिद्धांत और व्यवहार दोनों स्तरों पर न्गुगी वा थ्योंगो के द्वारा हुआ। उनकी रचनात्मकता वैश्विक स्तर पर अंग्रेजी साहित्य में अपनी गुणात्मकता के कारण स्थापित थी। उनके उपन्यासों को व्यापक स्वीकृति प्राप्त थी। उनकी एक सबसे महत्वपूर्ण रचना 1977 में 'पेट्ल्स ऑफ ब्लड' प्रकाशित हुई थी। वे स्वयं औपनिवेशिक काल की अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे। लेकिन उनकी चेतना से स्थानीयता का महत्व, मौलिकता का मूल्य और अपनी आँखों से सपना देखने के अधिकार की लालसा उस अंग्रेजी शिक्षा और

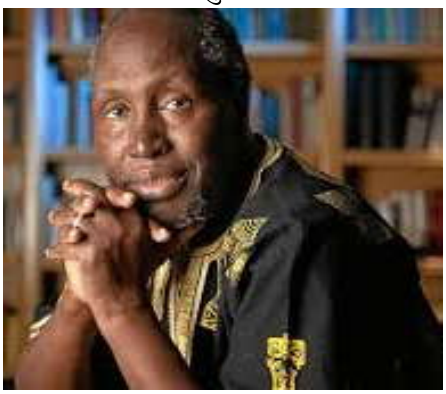

न्गुगी वा थ्योंगो

संस्कृति द्वारा समाप्त नहीं हो पाई थी। वह क्षमतावान बीज रूप में उनके मन में जीवित था जो उनकी व्यावसायिक सफलता और युरोपनिष्ठ लेखन पर सवाल खड़ा करता है।

अंग्रेजी भाषा में लिखते-पढ़ते और यश हासिल करते हुए न्गुगी का मन-मस्तिष्क अशांत था। भाषा सिर्फ एक संप्रेषण का माध्यम नहीं बल्कि एक विशिष्ट संस्कृति और आचरण प्रणाली का भी संवाहक होती है, इसका अनुभव उन्होंने बाल्यकाल में किया था। हर समाज की अपनी एक चेतना होती है जिसके अनुसार वह समाज अपने भीतर अंतर्सम्बन्धों को परिभाषित करता है और उसमें उस समाज का मूल्य भी प्रतिबिम्बित होता है।

वे कहते हैं, "किसी भी भाषा की दो भूमिका होती है : यह संप्रेषण का माध्यम होने के साथ-साथ संस्कृति का वाहक भी होती है। अंग्रेजी की बात करें तो यह ब्रिटेन, स्वीडन और डेनमार्क में बोली जाती है, लेकिन स्वीडन और डेनमार्क के लोगों के लिए अंग्रेजी सिर्फ गैर-स्कैंडिनेवियन लोगों के साथ संप्रेषण का माध्यम है। यह उनकी संस्कृति का वाहक नहीं है। लेकिन ब्रिटेन के लोगों के लिए अंग्रेजी भाषा की भूमिका अलग है। वहाँ अंग्रेजी में संप्रेषण, संस्कृति और इतिहास तीनों को अलग नहीं किया जा सकता।"[28] इसलिए किसी देश की सभ्यताई इतिहास और संस्कृति के विकास को जितने अच्छे तरीके से उस समाज और राष्ट्र की भाषा में समझा जा सकता है, उतना दूसरी भाषाओं के द्वारा नहीं। किसी भी समाज के विकास एवं विस्तार में उस समाज की भाषा जीवंत भूमिका निभाती है। छोटे बच्चों को जो कहानियाँ या प्रेरक प्रसंग सुनाए जाते हैं, उनमें उस समाज के द्वारा अर्जित मूल्यों का सम्प्रेषण होता है। जो समाज जिस अनुपात में सकारात्मक मूल्यों पर खड़ा होगा उसके किस्से-कहानियों में उतना ही अधिक उसका प्रवाह होगा। न्गुगी ने अपनी बचपन की याद को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

"अच्छे और बुरे कहानी कहने वाले दोनों प्रकार के लोग थे। अच्छी कहानी कहने वाले एक ही कहानी को बार-बार सुनाते थे और सुनने वाले को हमेशा इसमें ताजापन दिखाई पड़ता था। ये कहानियाँ किसी और के द्वारा सुनाई गई होती थीं और उसे फिर से सुनाने वाला उसमें जोड़-घटाव करके और अधिक जीवंत और प्रभावी बना देता था। इन सुनाने वालों में शब्दों, छवियों और शब्दों के उतार-चढ़ाव का ही सिर्फ अंतर होता था। इसमें शब्दों के तात्कालिक अर्थ से कही अधिक प्रेरणा होती थी। भाषा की जादुई शक्ति की जो हम प्रशंसा करते थे उसे और भी मजबूती हम जो खेल-खेलते थे उससे मिलती

28. थ्योंगो, न्गुगी वा, 1986, 'डिकोलोनाइजिंग द माइंड्स : पॉलिटिक्स ऑफ लैंग्वेज इन अफ्रीकन लिटरेचर', लंदन, हिनेमन्न एजुकेशनल।

थी। हम लोग जिस प्रकार सारगर्भित शब्दों, मुहावरों और शब्दों में तालमेल बिठाकर या कभी-कभी बेतुके ढंग से लेकिन संगीतमय तरीके से सजाकर जिस प्रकार खेलते थे वह सुनी गई कहानियों के संदेश को और भी ताकत देता था। भाषा संकेतों और छवियों के द्वारा एक संसार का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती है लेकिन इसका अपना एक विशिष्ट सौंदर्य होता है।"[29]

बच्चों को जो कहानियाँ मातृभाषा में सुनाई जाती हैं वह उनके भविष्य का पालना बनती है। वह उनके जीवन मूल्यों को बहुत अधिक प्रभावित करती है। व्यक्ति को जिस प्रकार वातावरण परिवार और सामाजिक परिवेश बचपन में मिलती है उसकी छाप उसके बाद के जीवन में देखी जा सकती है। न्गुगी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि उनके बचपन में सुनाई जाने वाली कहानियाँ प्रायः जानवरों को मुख्य पात्र बनाकर सुनाई जाती थी। भारत में भी मूल्यों और जीवन दर्शन को सम्प्रेषित करने वाली कहानियाँ इसी प्रकार की होती हैं। पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियाँ इसका उदाहरण हैं। न्गुगी ने लिखा है कि किस प्रकार ये कहानियाँ उनके जीवन को आयाम देने में एक सार्थक भूमिका निभाती रही हैं। खरगोश एक छोटा, कमजोर परन्तु रचनात्मक बुद्धि वाला होशियार जानवर है, जो हमारा नायक होता था। हम लोग अपने आपको उससे आत्मसात् करते थे। क्योंकि वह आततायी ताकत वाले चीता और लकड़बग्घा जैसे जानवरों से संघर्ष करते हुए अस्तित्व में रहता था। उसकी जीत को हम अपनी जीत मानते थे और उससे हम सीखते थे कि कमजोर होने पर भी हम किसी मजबूत को पराजित कर सकते हैं। हम जानवरों के संघर्ष को ध्यान से देखते थे कि कैसे वे सूखा, वर्षा, सूर्य की कड़ी धूप और तेज हवा का सामना करते समय परस्पर मित्रवत् सहयोग करते हैं। हम उनके बीच भी संघर्षों को ध्यान से देखते थे विशेषकर जंगली जानवरों और उनके शिकार से पीड़ित जानवरों के बीच संघर्ष और प्रकृति के साथ इनका संघर्ष मनुष्य के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करता था।[30]

न्गुगी ने लिखा है कि उपनिवेशवाद छोटी आयु के बच्चों के मस्तिष्क के लिए एक अभिशाप साबित हुआ क्योंकि उन्हें अंग्रेजी सीखने के लिए बाध्य किया गया जो उनकी अपनी भाषा नहीं थी। केन्या के लोग गिकुयू (Gikuyu) भाषा बोलते थे लेकिन उन्हें उपनिवेशवादियों ने अंग्रेजी भाषा सीखने के लिए बाध्य किया जो उनके समाज के वैश्विक दृष्टि को प्रतिबिम्बित नहीं करता था। अंग्रेजी भाषा केन्या के समाज और संस्कृति को किसी भी रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाती थी जबकि गिकुयू बहुत ही भावनात्मक रूप से हमारे

29. वही
30. वही

इतिहास और अनुभवों को अभिव्यक्त करती है।

वे आगे कहते हैं, "हम जिन दो स्थानों पर सीखते थे वे हैं घर और खेल का मैदान। स्कूल जाने से पहले हमलोगों का एक अलग प्रकार के (अनौपचारिक शिक्षा देने वाला) स्कूल की तरह होता था। इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि पूरे समाज में जिस भाषा का उपयोग होता था और हम शाम में खेलकूद के दौरान जिस भाषा का उपयोग करते थे दोनों एक ही भाषा थी एवं जब हमने स्कूल जाना शुरू किया तब यह जो सामंजस्य था वह टूट गया। यह स्कूल उपनिवेशवादियों के द्वारा चलाया जाता था। मेरी शिक्षा की भाषा तब वह नहीं थी जो मेरे समाज और संस्कृति की भाषा थी।"

न्गुगी की यह बात उन तमाम उपनिवेशों के लिए लागू होती है जो किसी न किसी साम्राज्यवादी देश के अधीनस्थ थे। ब्रिटेन, पुर्तगाल, ऑस्ट्रेलिया और फ्रांस ने अपने-अपने उपनिवेशों में अपनी-अपनी भाषाओं को थोपने का काम किया और दो वर्ग पैदा किए। एक वर्ग वे जो साम्राज्यवादियों की भाषा बोलते थे और उनकी विचार प्रणाली से जुड़ गए थे। यह वर्ग अपने आपको कुलीन और आधुनिक मानने लगा था। स्वदेशी भाषा के प्रति उपनिवेशवादियों ने हीन भावना पैदा करने की कोशिश की। भाषा की महत्ता को स्थापित करने में राज्य की ताकत और व्यापार दोनों की भूमिका होती है, उपनिवेशवाद के दौरान इन दोनों बातों में उनकी भाषा ही प्रधान होती थी। औपनिवेशिक शिक्षा ने लोगों में एक कृत्रिम 'स्व' आरोपित करने का काम किया। जितनी मात्रा में वे सफल हुए उतनी मात्रा में इस कृत्रिमता के वाहक अपनी मूल संस्कृति से कटते गए। न्गुगी इस बात को इन शब्दों में रखते हैं-

"साहित्यिक शिक्षा अब इस बात पर निर्भर करती थी कि आधिपत्य की भाषा क्या है? और यह उपनिवेशवादियों के आधिपत्य को मजबूत करने में मदद कर रही थी। इसका पहला परिणाम यह हुआ कि केन्या की भाषाओं का जो मौखिक साहित्य था वह महत्वहीन हो गया। प्राथमिक स्कूल में डिकेन्स, स्टीवेंसन और राइडर हैगार्ड जैसे लेखकों का, जो सरल साहित्य था अब उसे पढ़ाया जाता था। जिम हॉकिन्स, ऑलिवर ट्विस्ट, टॉम ब्राउन अब हमारे पात्र होते थे न कि खरगोश, चीता और, सिंह। अब हमारी कल्पनाओं में अपनी कहानियों के नायक नदारद हो गए और आरोपित नायक शामिल हो गए। माध्यमिक स्कूल में हम स्कॉट, जॉर्ज बर्नार्ड शा, राइडर हैगार्ड, जॉन बुचन, ऐलन पैटन, कैप्टन डब्ल्यू. ई. जॉन्स को पढ़ते थे। मकेरेरे (विश्वविद्यालय) में हम चौसर से लेकर टी.एस. एलियट और ग्राहम ग्रीन की रचनाओं में अंग्रेजी पढ़ते थे। इस प्रकार भाषा और साहित्य हमें दिन-प्रतिदिन अपने 'स्व' से परकीय 'स्व' तक ले जाने का लगातार काम कर रहा था। अपनी दुनिया

से दूसरों के संसार में हमें पहुँचा रहा था।" वे आगे लिखते हैं, "और यह जो मन में छवियाँ बन रही थीं, जो हमारी अपनी मौखिक कहानियों और साहित्य से बनी थी, उससे अब हम संसार नहीं देख पा रहे थे। यद्यपि शेक्सपीयर, गोइथे, बाल्झाक, टॉल्सटॉय, गोर्की, ब्रेट, सोलोखोव और डिकेन्स जैसे लेखकों के साहित्य में उत्तम मानवीय मूल्य मौजूद थे तथापि इन विदेशी साहित्यों से हम अपने आपको बाहर कर लेते थे। कल्पनाओं के इस महान आईने का केन्द्र यूरोप होता था और उसी की संस्कृति और इतिहास (उन साहित्यों में) विद्यमान होता था एवं शेष ब्रह्माण्ड को उसी के नजरिए से देखा जाता था।[31]

न्गुगी कहते हैं कि भाषा के सांस्कृतिक आयाम का तात्पर्य है, 'इतिहास में लोगों के अनुभवों का एक साझा स्मरण का कोष (Bank)'। इसीलिए 'संस्कृति को प्रायः भाषा से अलग नहीं किया जा सकता है जो उसके उदभव, विकास, संचय, व्यक्ति और निश्चित रूप से सम्प्रेषण को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में सुनिश्चित करता है।' न्गुगी औपनिवेशिक मानसिकता को बेहतरीन तरीके से उजागर करते हैं। उनके अनुसार औपनिवेशिक ताकतें सिर्फ इस बात में रुचि नहीं लेते थे कि छात्र अंग्रेजी का प्रयोग सीखें बल्कि इस बात का भरपूर प्रयास करते थे कि बच्चे अपनी मातृभाषा से पूरी तरह कट जाएँ। इस उद्देश्य की प्राप्ति करने के लिए वे बल, छल-कपट और लोभ तीनों का प्रयोग करते थे। उन्होंने अपने बचपन के अनुभव को रखा है जो औपनिवेशिक चरित्र और कपटी मस्तिष्क को उजागर करता है।

वे लिखते हैं, "स्कूल के परिसर में सबसे अधिक अपमानजनक अनुभव किसी बच्चे को तब होता था जब वह गिकुयू में बोलते हुए पकड़ा जाता था। अपराधी को उसके नग्न शरीर (Bare Buttocks) पर तीन से पांच कोड़े लगाए जाते थे - या उसके गर्दन में 'मैं बेवकूफ हूँ' (I am stupid), 'मैं एक गधा हूँ' (I am a donkey) लिखा हुआ एक धातू प्लेट टांग दिया जाता था। कभी-कभी तो अपराधी को इतने रुपये का जुर्माना होता था जिसे भरना भी मुश्किल था।" न्गुगी ने इसके बाद जो अनुभव सुनाया वह दो सभ्यताओं के बीच मूल्यों में अंतर को दर्शाता है। सवाल उठता है कि 'किस प्रकार शिक्षक अपराधी को (अपनी मातृभाषा बोलते हुए) पकड़ते थे? किसी एक बच्चे को एक बटन पकड़ाया जाता था जिसका काम था कि जो भी मातृभाषा बोलता पकड़ा जाए उसे वह बटन दे दे। दिन के अंत में जिसके पास बटन होता था उसे बताना पड़ता था कि किसने उसे इस बटन को दिया और इस प्रक्रिया के द्वारा सभी अपराधियों को एक साथ इक्ट्ठा कर लिया जाता था। इस

31. वही

प्रकार बच्चों का उपयोग महीनी रूप से अपने ही बीच अपराधियों को खोजने (Witch Hunt) के लिए किया जाता था। इस प्रक्रिया में उन्हें आपस में ही गद्दारी करने जैसा मूल्य सिखाया जाता था। अंग्रेजी के प्रति दृष्टि ठीक इसके विपरीत थी : अंग्रेजी में बोलने और लिखने की किसी भी उपलब्धि को पुरस्कृत किया जाता था। पुरस्कार, प्रतिष्ठा, तालियाँ और ऊँचे दर्जे का उन्हें टिकट दिया जाता था। अंग्रेजी कला, विज्ञान और सभी विषयों में बौद्धिकता और योग्यता को मापने का आधार बन गया था। अंग्रेजी औपचारिक शिक्षा में आगे बढ़ने के लिए और बच्चों के विकास का मुख्य कारक बन गया था।'

एक तरफ स्कूल जाने वाले इन बच्चों को घरों में सामूहिक, सामुदायिक जीवन, परस्पर प्रेम और धोखा नहीं देने का संदेश दादी माँ की कहानियों और स्थानीय खेल-कूद के पीछे की भावना से प्राप्त होता था तो दूसरी तरफ स्कूलों में एक-दूसरे को धोखा देना, अपनों से बैर रखना, व्यक्तिवादी जीवन जीने की सीख अंग्रेजी शिक्षा से मिलती थी।

न्गुगी ने साम्राज्यवादियों के भाषाई उपक्रम पर प्रकाश डालते हुए स्थानीय भाषा से स्थानीय लोगों को अलग करने की उनकी साजिश के ऊपर कहा है कि, "हम बच्चों पर उपनिवेशवादियों द्वारा विदेशी भाषा थोपने का असर क्या हुआ?" उपनिवेशवाद का असली उद्देश्य लोगों के सम्पत्ति पर नियंत्रण करना था : उन्होंने क्या उत्पादन किया? कैसे उत्पादन किया? कैसे उसका वितरण किया? एक प्रकार से पूरा नियंत्रण करना था। दूसरे शब्दों में उनके वास्तविक जीवन की भाषा के संसार को अपने अधीनस्थ करना था। उपनिवेशवाद ने सैन्य विजय के द्वारा धन के सामाजिक उत्पादन पर अपना नियंत्रण स्थापित किया और उसके बाद राजनीतिक तानाशाही स्थापित हुई। लेकिन इसके आधिपत्य का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र लोगों का मन-मस्तिष्क था और संस्कृति के द्वारा उसने लोगों को मानसिक रूप से गुलाम बनाया। इसका तात्पर्य है लोग अपने आपको और दुनिया को कैसे देखें इसके लिए उपनिवेशवाद ने उनके मानसिक संसार को बदल दिया। आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण तब तक पूर्ण और प्रभावी नहीं होता है जब तक कि मानसिक नियंत्रण स्थापित नहीं हो जाता है। लोगों की संस्कृति पर नियंत्रण करने का मतलब है उन बातों को नियंत्रित करना जिसके द्वारा वे अपने आपको दूसरों के संदर्भ में परिभाषित करते हैं। उपनिवेशवाद एक ही प्रक्रिया के दो रूप लागू करता है: लोगों की संस्कृति का विनाश करना या उसका अवमूल्यन करना। उनकी कला, नृत्यों, धर्मों, इतिहास, भूगोल, शिक्षा और साहित्य को नष्ट किया जाता है या अवमूल्यन किया जाता है। दूसरी तरफ उपनिवेशवादी सोचे-समझे तरीके से अपनी भाषा को उन्नत बनाते हैं। लोगों की मानसिक जगत पर नियंत्रण करने के लिए उपनिवेशवादी उनकी भाषा पर अपनी भाषा का नियंत्रण आवश्यक मानते हैं।

उपनिवेशवाद के इस प्रकार के दुष्प्रभाव के सन्दर्भ में अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का जन्म लेना अवश्यंभावी हो जाता है और 'इसे उपनिवेशवादियों एवं पूर्व उपनिवेशों के लिए शुद्धिकरण का कार्य समझा जाता है' और 'दोनों ही पक्षों के लिए मुक्ति की प्रक्रिया होती है। उपनिवेशों के लिए निर्भरता से मुक्ति होती है तो साम्राज्यवादियों के लिए नस्लवाद (उपनिवेशों के), प्रतिनिधित्व और संस्थाओं के बोध से मुक्ति होती है।'[32]

समीया के इस कथन में कि अनौपनिवेशीकरण में बदले की राजनीति का कोई स्थान नहीं है। उनका मानना ठीक ही है कि पश्चिम में पुरानी राजनीतिक श्रेणियों जिसमें नस्लवाद और रंगभेद की नीतियाँ हैं, को अब नकार दिया है। लेकिन उसके बावजूद वह मानती हैं कि पश्चिम के मस्तिष्क के साथ सामंजस्य एक चुनौती है। वास्तव में असली चुनौती राजनीति से इतर अन्य क्षेत्रों में जो पश्चिम का आधिपत्य है उसे स्थानीय मूल्यों और वैचारिक स्तर पर पुनर्परीक्षण करना और उस पुनर्परीक्षण के बाद उन्हें समाप्त करना है।

II

भारत में अनौपनिवेशीकरण का विमर्श नया नहीं है। चिंतन और समाधान के स्तर पर यह औपनिवेशिक काल से चलता रहा है। लेकिन राजनीतिक इच्छा शक्ति के अभाव में और वैकल्पिक बौद्धिक आंदोलन के उदय एवं प्रभावी हस्तक्षेप की न्यूनता ने अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को बहुत ही धीमा कर दिया और उन बुनियादी प्रश्नों पर जहाँ औपनिवेशिक प्रभावों की चर्चा व उनके नुकसान पर विमर्श होना चाहिए था वहाँ पर आधुनिकता के नाम पर उसे दबा दिया गया। इस तरह का प्रभाव 'आधुनिकता' और 'प्रगतिशीलता' की परिभाषा को इस प्रकार गढ़ता है कि उसमें स्थानीयता और मौलिकता दोनों का क्षरण होता है। जो लोग भाषा, संस्कृति और चिंतन में यूरोप के जितने नजदीक होते हैं और उसके आईने में अपने आप को विकसित करते हैं वे सभी लोग देश के भीतर ऐसा नहीं करने वाले को अविकसित मानते हैं। कुंठा एवं हीन भावना उनमें थोप देना चाहते हैं। एक और आयाम इसमें महत्वपूर्ण है। पूर्व साम्राज्यवादियों की आर्थिक सम्पन्नता और उनकी दुनिया को वैचारिक नेतृत्व देने की छिपी एवं अभिव्यक्त दोनों आकांक्षाओं ने उनकी भाषा को बाजार की शक्ति से और उनके विचार को आधुनिकता से जोड़ दिया है। इसलिए अनौपनिवेशीकरण

32. मेहरज, समीया (1991) 'द सबवर्सिव पोएटिक्स ऑफ रैडिकल बाइलिंग्वलिज्म : पोस्ट कोलोनियल फ्रैंकोफोन नॉर्थ अमेरिकन लिटरेचर' इन लैकपरा, डी (ई.डी.) द बाउंड्स ऑफ रेस : पर्सपेक्टिव्स ऑन हेजेमनी एण्ड रेजिस्टेंस, इठाका, कॉरनेल यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ-258.

की कोई भी प्रक्रिया तब तक सफल नहीं होगी जब तक उपनिवेशवाद के और पूर्व उपनिवेशवादियों का वर्तमान में आधिपत्यवादी उपक्रम के वैचारिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चारों आयामों के सम्बन्धों को ठीक से नहीं समझा जाएगा। इसके लिए आवश्यक है कि अंग्रेजी की उपयोगिता और अंग्रेजी के उन्माद दोनों के अंतर को समझना। अंग्रेजी एक भाषा के रूप में कितना उपयोगी है और नहीं है यह बहस का विषय हो सकता है, लेकिन इसके आधिपत्य के कारण व इसे आधुनिकता और शिक्षा में ऊँचाई ग्रहण करने का एकमात्र पैमाना मान लेने के कारण भारतीय भाषाओं की प्रतिभाओं का साहित्य और सांस्कृतिक रचनाओं का बर्बरता से दमन होता रहा है और यह बर्बरता ऐसी है जो निःशब्द तरीके से होती रही है।

अंग्रेजी के आधिपत्य ने भारत में एक कुलीनतावादी मानसिकता को जन्म दिया और यह कुलीनतावादी मानसिकता सिर्फ राजनीतिक संरचना ही नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक सत्ता पर भी काबिज हो गई। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उभरने के लिए अंग्रेजी भाषा का सहारा अनिवार्य हो गया। औपनिवेशिक काल से इस प्रक्रिया का दिनोदिन प्रबलतर होना इतना घातक सिद्ध हुआ कि जमीनी स्तर पर यह संदेश घर करने लगा कि अंग्रेजी सिर्फ एक भाषा ही नहीं है बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक शक्ति का स्रोत भी है। इसका दूसरा भी दुष्परिणाम हुआ। सांस्कृतिक सोच और समझ भारत में जो विकेन्द्रीकृत रूप से पलती-बढ़ती रही है। असम में शंकर देव, तमिलनाडु में तिरूवल्लूवर, महाराष्ट्र में समर्थ रामदास, हिन्दी क्षेत्र में तुलसीदास जैसी अनगिनत चिंतकों की रचनाएँ और प्रकारांतर में लिखे जाने वाले भाष्यों के बीच परस्पर तालमेल और सम्प्रेषण कमजोर होता गया। इतना ही नहीं भारतीय भाषाओं में उच्च स्तर के शास्त्रीय रचनाओं (Classical Text) के अनुवाद अंग्रेजी में तो मिल जाते हैं लेकिन भारतीय भाषाओं में जिस स्तर और गति से उनका अनुवाद होना चाहिए वह नहीं हो पाया है। जाहिर है अंग्रेजी के आधिपत्य ने संस्कृति की व्यापकता को निश्चित रूप से सीमित और बाधित करने का काम किया है। छोटे बच्चों से लेकर विश्वविद्यालयों तक अंग्रेजी भाषा सीखने के क्रम में पश्चिम के विद्वानों, साहित्यकारों, चिंतकों और समाजशास्त्रियों को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता रहा।

जो समाज को देखने-समझने, सामाजिक सम्बन्धों को परखने तथा सामाजिक प्रक्रियाओं को जानने की हर सभ्यता और संस्कृति में कुछ समान शब्दावली और परिभाषाएँ होती हैं और कुछ खास शब्दावली और परिभाषाएँ भी होती हैं। जो स्थानीय भाषाई प्रभाव ने खास शब्दावली और परिभाषाओं को भी आधिपत्यवादी समाज की शब्दावली और

परिभाषा के अनुकूल अपना अर्थ बदलने के लिए और मौलिकता छोड़ने के लिए प्रेरित भी किया और बाध्य भी। इतना ही नहीं भविष्य में भी स्वचिंतन की प्रक्रिया और मौलिक वैश्विक दृष्टि की उपज को आधिपत्यवादी सोच के अनुकूल नहीं होने पर उसे उपेक्षित किया। उदाहरण के लिए भारत में 'धर्म' शब्द का शास्त्रों एवं व्यवहार दोनों में जो उपयोग होता रहा वह रीलिजन (Religion) शब्द से बिल्कुल अलग है। वियोग हरि ने लिखा है कि "भारत की परम्परा में धर्म और संस्कृति को संयुक्त रूप में पाते हैं। परन्तु धर्म का अर्थ यहाँ वह नहीं लिया जाय, जो 'मजहब' या 'रीलिजन' (Religion) का है।"[33] लेकिन आज हम स्वयं रीलिजन (Religion) और धर्म को समानार्थी शब्द की तरह प्रयोग करते हैं उसी प्रकार सदियों से भारत में जो गणतंत्र की प्रणाली, जनपद व्यवस्था, पूजा-पद्धतियों एवं दर्शनों के बीच परस्पर टकराव एवं सामंजस्य से ऊपजी हुई पंथनिरपेक्षता की जीवनशैली ये सभी हमारी चेतना एवं ग्रंथों दोनों में ऊर्जाहीन अवधारणा की तरह बनकर रह गया। इस संदर्भ में सेक्युलरिज्म की शब्दावली और अवधारणा पर प्रकाश डालना आवश्यक है। पश्चिम में राजतंत्र और रिलिजिन तंत्र (चर्च) के बीच प्रेम और घृणा, सामंजस्य और आधिपत्य की लड़ाई का अपना इतिहास रहा है। ठीक उसी प्रकार विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों के बीच परिस्थितिजन्य प्रतिस्पर्द्धा रही है और वर्चस्व की लड़ाई में तर्क और ताकत दोनों से संघर्ष हुआ है। उसी प्रकार इस्लाम और ईसाई समाजों के बीच भी लम्बे संघर्ष की दास्तान रही है। उन सभी अनुभवों और उन अनुभवों के बीच में ज्ञान प्रणाली और सुधार प्रणाली की प्रक्रिया और प्रगतिशील विचारों के विकास के साथ सेकुलरिज्म की अवधारणा आई। भारत की पंथनिरपेक्षता की अवधारणा इससे कई मायनों में बुनियादी तौर पर अलग है। यह दर्शनों और पूजा-पद्धतियों की स्वयत्तता एवं उन दोनों को नकारने की भी स्वतंत्रता को सहज नैतिक एवं वैधानिक स्थान देता है। आध्यात्मिक बहुलतावाद (Spiritual Pluralism) के साथ-साथ भविष्य की नई सम्भावनाओं को आशावादी तरीके से देखता है जिसके कारण नया दर्शन, नया सम्प्रदाय, नए आध्यात्मिक गुरु, प्राचीन दर्शन, सम्प्रदाय और आध्यात्मिक गुरुओं की निंदा सबका तुलनात्मक और संदर्भानुकुल महत्व बना रहता है और वे आलोचना के दायरे से बाहर नहीं होते हैं एवं उन्हें नजरअंदाज भी नहीं करता है। निरंतरता के साथ परिवर्तन ने भारत के आध्यात्म और सामाजिक दर्शन को जीवंत रखा है। इसलिए सुधारवादी और प्रगतिशील हस्तक्षेप कभी भी बर्बरता या क्रूरता का न शिकार हुआ है और ना ही आध्यात्म और सामाजिक संरचनाओं के कारण खारिज हुआ है। भारत की

33. वियोगी हरि (2002) हमारी परम्परा, सस्ता साहित्य प्रकाशन मंडल, पृष्ठ-9

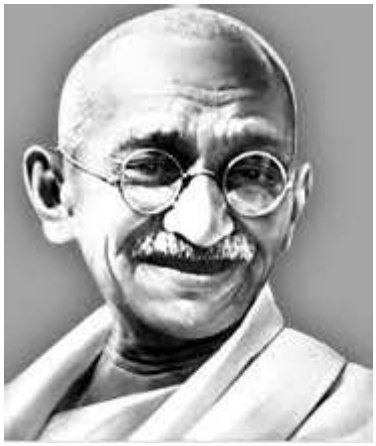

महात्मा गांधी

पंथनिरपेक्षता, प्रयोगधर्मी समाज को प्रतिबिम्बित करता है। इसलिए यह एक संरचनात्मक व्यवस्था न होकर और परेशानियों एवं परिस्थितियों के कारण उपजी हुई अवधारणा न होकर जीवन पद्धति का मूल आधार है। लेकिन पश्चिम की सेक्युलरिज्म की अवधारणा को भारतीय एवं अन्य पूर्व उपनिवेश के देशों पर यूरोपीय आधिपत्य के कारण आरोपित कर दिया गया। इसलिए अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया 'स्व' को जानना, समझना, उसके आधार पर अन्य सभ्यताओं या राष्ट्रों के चिंतन से संवाद करने का एक विचारधारा और उपक्रम दोनों है। इसमें आधिपत्य का भाव न होकर स्थानीयता का स्वाभाविक विकास और गैर-स्थानीयता के साथ रचनात्मक और आलोचनात्मक संवाद होता है। लेकिन भारतीय परिवेश में अंग्रेजी के आधिपत्य ने भारतीय भाषाओं के लेखकों, साहित्यकारों व समाजशास्त्रियों को महत्वहीन बनाने का काम किया है। इसके बावजूद भारतीय भाषाओं के लेखकों ने अपने-अपने स्तर पर अपने वजूद को बनाए रखा।

औपनिवेशिक काल में जब अंग्रेजी राज सत्ता को चुनौती देने की बात चल रही थी तब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885 ई. में) हुई तब युरोपनिष्ठ और भारतनिष्ठ राष्ट्रवादियों के बीच टकराव एवं विमर्श दोनों हुआ। महात्मा गांधी ने उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को राजनीतिक उपक्रम नहीं मानकर एक सभ्यताई उपक्रम माना। 1909 में उन्होंने 'हिन्द स्वराज' की रचना की। यह पुस्तक पश्चिम की सभ्यता की आलोचना है। गांधी ने माना कि अंग्रेजी सत्ता का प्रभाव सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता के संदर्भ में देखना अनुचित होगा। वास्तव में यह भारतीयों के मन मस्तिष्क को अंग्रेजी शिक्षा थोपकर बदलने की एक विचार और राजनीतिक प्रणाली है।

जब कोई देश वैचारिक रूप से दूसरे देश का अनुयायी हो जाता है और आयातित विचारों के आधार पर अपने आप को ढालने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है तो यह असली गुलामी होती है। इस स्थिति में राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने के बावजूद व्यक्ति और समाज अपने स्व से दूर रहता है। उसकी अधिकांश ऊर्जा और क्षमता विदेशी भाषा सीखने और अपने जीवन से अलग वातावरण और संदर्भ में लिखी गई रचनाओं को जांचने-परखने तथा अपना उनसे सामंजस्य बैठाने में चला जाता है। आजादी से पूर्व 1931 का वर्ष सांस्कृतिक और वैचारिक दास्ता से विमुक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण वर्ष माना जाना

चाहिए। इस वर्ष दो भाषणों में इसी विमुक्तिकरण का भाव और विचार परिलक्षित हुआ। महात्मा गांधी ने लंदन के एक व्याख्यान में औपनिवेशिक प्रतिष्ठान द्वारा भारत की शिक्षा पद्धति को उजाड़ने को 'एक सुंदर वृक्ष को काटने' (Destruction of Beautiful Tree) की संज्ञा दी। उन्होंने कहा अपनी शिक्षा सिर्फ साक्षरता का स्रोत नहीं होकर संस्कृति और सरोकारों का सृजन करता है। परकीय शिक्षा हमें गुलामी की मानसिकता देती है। भारतीय दार्शनिक कृष्णचंद्र भट्टाचार्य (1875-1949) ने इसी वर्ष 'श्री आशुतोष स्मारक व्याख्यान' दिया। इस व्याख्यान का आयोजन चारू चंद्र राय द्वारा चंद्र नगर में किया गया था।[34]

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य

भट्टाचार्य का यह भाषण अनौपनिवेशीकरण का एक प्रकार का घोषणापत्र है। उन्होंने अत्यंत ही विवेकपूर्ण तरीके से स्वतंत्रता आंदोलन में औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रभाव से देश को बचाने की मुहिम की अनुपस्थिति की अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना की। उन्होंने कहा स्वतंत्रता आंदोलन में सत्य का आग्रह करने का प्रशिक्षण तो हो रहा है लेकिन सत्याग्रहियों को अपने भारतीय समाज को विदेशी सांस्कृतिक प्रभाव से बचाने का कोई सांस्कृतिक प्रशिक्षण नहीं मिल पा रहा है। भट्टाचार्य ने अपने भाषण की शुरुआत में ही राजनीतिक स्वराज और विचारों के स्वराज के अंतर को रेखांकित किया है, "आज हम राजनीति में स्वराज या आत्म-निर्णय की चर्चा करेंगे। मनुष्य के ऊपर मनुष्य का प्रभुत्व सर्वाधिक स्पष्टता से राजनीतिक दायरे में ही महसूस किया जाता है, जबकि विचारों के दायरे में एक संस्कृति के ऊपर दूसरी संस्कृति अपना प्रभुत्व परोक्ष रूप से स्थापित करती है। साधारणत: महसूस न होने के कारण इस तरह के प्रभुत्व का नतीजा ज्यादा गम्भीर होता है। राजनीतिक अधीनता का प्राथमिक अर्थ है राष्ट्रीय जीवन की बाहरी जकड़बंदी। निश्चित रूप से ये पाबंदियाँ हमारे आंतरिक जीवन के मर्म में पैठती जाती हैं, लेकिन दूसरी तरफ इनके प्रति जागरूकता इस प्रक्रिया के खिलाफ काम भी करती रहती है। जकड़बंदी के प्रति सचेत रहने

34. यह भाषण विश्व भारती क्वार्टरली 20, 103-114 (1954) में प्रकाशित हुआ था।

से या तो उसका प्रतिरोध करने की सम्भावना बनी रहती है, या फिर उसे आवश्यक बुराई की तरह सहन करते हुए अपनी चेतना को स्वतंत्र रखा जा सकता है। दरअसल, दासत्व की शुरुआत होती ही तब है, जब इस बुराई की अनुभूति खत्म हो जाती है। गुलामी उस समय जड़ पकड़ लेती है जब उसे अच्छा मान कर स्वीकार कर लिया जाता है। आमतौर से अनभिप्रेत होने के कारण सांस्कृतिक अधीनता की प्रकृति में दासत्व शुरू से ही निहित रहता है। सांस्कृतिक अधीनता से मेरा तात्पर्य किसी बाहरी संस्कृति का आत्मसातीकरण नहीं है। किसी संस्कृति को इस तरह अपना लेना अपने आप में कोई बुरी बात नहीं होती। स्वस्थ विकास के लिहाज से ऐसा करना सकारात्मक जरूरत भी हो सकती है। ऐसे आत्मसातीकरण को किसी भी तरह से आजादी का खात्मा नहीं माना जा सकता। सांस्कृतिक दासत्व की नौबत तो तब आती है जब विचारों और भावनाओं का पारम्परिक साँचा मानस पर प्रेत की तरह छायी विजातीय संस्कृति की नुमाइंदगी करने वाले साँचे द्वारा अपदस्थ कर दिया जाता है; और इससे पहले इन दोनों के बीच न कोई होड़ होती है और न किसी आपसी मिलान का आकलन किया जाता है। ऐसी स्थिति में पैदा होने वाली पराधीनता आत्मा को गुलाम बना लेती है। जब कोई व्यक्ति खुद को इससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है कि जैसे उसकी आँखों से पर्दा हट गया हो। उसे पुनर्जन्म जैसी अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।"

स्पष्ट शब्दों में भट्टाचार्य ने सरलता के साथ यह समझाया है कि सांस्कृतिक दासता तब आ जाती है, जब स्थानीय संस्कृति वाह्य संस्कृति से बिना प्रतिस्पर्द्धा किए या बिना परस्पर संवाद किए अपदस्थ हो जाती है। दूसरी बात उन्होंने जो कहा कि वाह्य संस्कृति की जिन बातों को हम आरम्भ में बुराई मानकर स्वीकार करते हैं और लाचारीवश उसे अपनाते हैं वही बातें धीरे-धीरे अपनी स्थाई जगह बना लेती हैं, और उसे अपनाने में हम न बुराई मानते हैं और न ही हमें कोई अपराध-बोध होता है। तब असली गुलामी का पदार्पण होता है। राजनीतिक गुलामी तो सिर्फ हमें बाह्य रूप से गुलाम बनाती है, लेकिन सांस्कृतिक गुलामी हमारे आत्मा को गुलाम बना लेती है। इससे लड़ने की जब चेतना और क्षमता विकसित होती है तथा जब हम इससे निकलकर बाहर आते हैं, तब हमें जिस स्वराज की प्राप्ति होती है उसे भट्टाचार्य ने 'विचारों का स्वराज' की संज्ञा दी है।

औपनिवेशिक बौद्धिक प्रणाली और विचारों के प्रभाव ने एक ऐसा वर्ग पैदा किया जो अपने आप को अंग्रेजों के जैसा दिखने, व्यवहार करने, उनके जैसा ही बोलने में आधुनिकता

का दर्शन करने लगा। वे यूरोप के साथ कदम-से-कदम चलाने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करते हैं और वे बहुत ही ओछे ढंग से अपनी सांस्कृतिक विरासत से या तो अनभिज्ञता दिखाते हैं या उसमें कोई रुचि नहीं लेते हैं। इस संदर्भ में भट्टाचार्य ने कहा है कि "हमारे देश में बहुत से शिक्षित लोग न तो हमारी इस देशज संस्कृति के बारे में कुछ खास जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। और, जब वे जानने की कोशिश करते भी हैं तो उन्हें उसके जरिये अपनी इयत्ता खोजने जैसा कोई अहसास नहीं होता, हालाँकि यह अनुभूति उन्हें होनी चाहिए।"

संस्कार, संस्कृति और विचार-प्रणाली ने पढ़े-लिखे लोगों के एक बड़े वर्ग को जड़-जमीन से काटने का काम किया है। उन्हें अपने साहित्य और सामाजिक परम्पराओं को जानने की भी आवश्यकता महसूस नहीं होती है। परन्तु, यूरोप की जटिलताओं को आनंद समझते हैं।

भट्टाचार्य आगे कहते हैं, "निर्विवाद रूप से यह पश्चिमी संस्कृति हम पर थोपी गई है। यहाँ पश्चिमी संस्कृति का अर्थ है विचारों और भावनाओं की एक पूरी व्यवस्था। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि यह संस्कृति अनिच्छुक लोगों पर थोपी गई है। दरअसल, हमने खुद ही इस शिक्षा की माँग की है और हमें लगता है कि कुछ मायनों में यह हमारे लिए एक वरदान है। शायद हमारा ऐसा मानना सही भी है। लेकिन जब मैं यह कहता हूँ कि पश्चिमी संस्कृति हम पर थोपी गई है तो मेरा मतलब केवल यह होता है कि हमने आमतौर पर इसे अपनी पहले से चली आ रही भारतीय बुद्धि के साथ सचेत रूप से ग्रहण नहीं किया है। हमारे शिक्षित लोगों के लिए अधिकांशत: यह भारतीय बुद्धि पूरी तरह से व्यतीत हो कर सांस्कृतिक चेतना के धरातल से नीचे ठहर गई है।"

भट्टाचार्य ने इस बात को नकारा है, जिसमें संस्कृति का अंधविरोधी या अंधभक्त शामिल है। वे कहते हैं, "राष्ट्रीय आत्माभिमान और अपनी संस्कृति से जुड़ी हर चीज का बिना सोचे-विचारे महिमामंडन करने और दूसरी संस्कृतियों से जुड़ी हर चीज को नकारने की प्रवृत्ति में भी खतरा है। लेकिन मेरे ख्याल से हमारी अपनी परिस्थितियों में इस पर जोर देने की इतनी जरूरत नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि इस पर कम गम्भीरता से अमूर्त विमर्श किया जाना चाहिए। लेकिन तथ्य यह है कि हमारे शिक्षित लोग अति-आत्मविश्वास के बजाय अति-आत्मसंदेह से पीड़ित हैं। ये परिवेशवादी रवैये से चिपके रहने से कहीं ज्यादा बेबुनियाद सार्वभौमवाद से पीड़ित हैं। हम दूसरों द्वारा हमारे बारे में किए गए

मूल्यांकन से असंतुष्ट होने के बजाय उसे स्वीकार करने के लिए ज्यादा तैयार रहते हैं।"

भारतीय विद्या में समन्वय का स्थान है। समन्वय का तात्पर्य सौहार्द्र के साथ दूसरी संस्कृति या विचार प्रणाली से संवाद करना और अपने अनुकूल बातों का आत्मसात करना होता है। ब्रह्मसूत्र का एक सूत्र है 'तन्तु समन्वयात्' अर्थात परम सत्य तक समन्वय के मार्ग से ही पहुंचा जा सकता है। भट्टाचार्य ने पश्चिम के चातुर्य और वैचारिक आधिपत्य के तौर-तरीकों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "पश्चिम के समृद्ध और समर्थ जीवन से उद्भूत ये विचार हमारे भीतर एक छाया-बुद्धि की रचना करते हैं। प्रामाणिक सृजनशीलता के क्षणों को छोड़ कर यह छाया-बुद्धि ही वास्तविक बुद्धि की तरह काम करती है। उम्मीद तो यह थी कि एक सदी से ज्यादा समय तक पश्चिम के प्राणवान विचारों के सम्पर्क में रहने के बाद आधुनिक विश्व की संस्कृति और चिंतन में भारत की तरफ से प्रबल योगदान होगा, खासतौर पर इतिहास, दर्शन या साहित्य जैसे मानविकी के विषयों में, जिससे हमारे वे देशवासी लाभान्वित हो पाएंगे जो अब भी देशज मानस में रमे हुए हैं। इस योगदान को एक विशिष्ट भारतीय चेतना की देन समझा जा सकता था। लेकिन कुछ असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न लोगों के, जिनका होना उनके समय का मोहताज नहीं होता, योगदान के अलावा शिक्षित भारतीयों के योगदान का हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।"

बौद्धिक योगदान एक सतत प्रक्रिया है जो चेतना का हिस्सा है। पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने व्यावसायिक हितों तक सिमटता है, यह आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य यह है कि वह अपने परिवेश और अपनी संस्कृति पर आधारित भाष्यों से अपने आय को अलग कर लेता है।

भट्टाचार्य कहते हैं, "दुनिया भर में चलने वाले आंदोलनों की हम चर्चा करते रहते हैं और पश्चिमी जीवन और चिंतन के सिद्धांतों और उनसे जुड़ी बातों के बारे में भी हमें अच्छी-खासी जानकारी है। लेकिन हमें अक्सर यह ठीक से पता नहीं होता है कि दरअसल आज हम कहाँ खड़े हैं। हम यह भी नहीं समझ पाते कि अपनी जिंदगी के हालात पर हम इन किताबी सिद्धांतों को किस तरह लागू करें। पश्चिमी संस्कृति ने हमारे बारे में जो फैसले कर लिए हैं, हम या तो उन्हें स्वीकारते हैं, या उन्हें दोहराते हैं। कई बार उनके प्रति एक नपुंसक किस्म का असंतोष भी जताया जाता है। लेकिन हमारे पास अपनी ऐसी कोई समझ नहीं है जो हमारी अपनी हकीकत के निचोड़ पर आधारित हो।"

पश्चिम के साहित्य, संस्कृति और विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन और परीक्षण

करना तथा उस क्रम में अपनी बातें जोड़ना रचनाकारों का धर्म होता है। परन्तु इसकी अल्पता भारत में रही है। वे कहते हैं, "इसी तरह पूछा जा सकता है कि ज्ञान के क्षेत्र में हममें से कितने लोग पश्चिमी साहित्य और चिंतन का विशिष्ट भारतीय लेखा-जोखा तैयार कर पाए हैं? एक विदेशी किसी दूसरे देश के साहित्य की कदर कर सकता है, पर अंततः उसकी बुद्धि तो स्थानीय निवासियों की बुद्धि से अलग तरह की प्रतिक्रिया ही करेगी। मसलन, एक फ्रांसीसी किसी अंग्रेज की तरह शेक्सपीयर का मूल्यांकन नहीं कर सकता। हमें ज्यादातर शिक्षा अंग्रेजी साहित्य के जरिये मिली है। लेकिन फ्रेंच और जर्मन बुद्धि अंग्रेजी साहित्य की चेतना से जितनी दूर है, परम्परा और इतिहास के लिहाज से भारतीय बुद्धि उससे कहीं ज्यादा दूर है। इसके बावजूद मेरी जानकारी के मुताबिक किसी भारतीय ने अंग्रेजी साहित्य के बारे में अपने भारतीय मानस का परिचय दे सकने वाला कोई मूल्यांकन नहीं किया है। चूंकि उसके आकलन और किसी अंग्रेजी आलोचक के आकलन में कोई खास अंतर नहीं होता, इसलिए संदेह होता है कि क्या यह किसी भी तरह से उसकी कोई अपनी समझ है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह सिर्फ पश्चिमी शिक्षा द्वारा हमारी बुद्धि पर चढ़ाई गई कलई का यांत्रिक परिणाम ही हो।"

इस संदर्भ में सबसे दुखद पक्ष है कि हमने अपने वैशिष्ट्य को ही नहीं पहचाना है। भारत अपनी दार्शनिक रचनाओं के लिए जाना जाता है। दर्शन के क्षेत्र में भारत का योगदान पाश्चात्य जगत ने स्वीकार किया है। पश्चिमी चिंतकों ने अपने तरीके से उसका दोहन और उपयोग भी किया है। भट्टाचार्य कहते हैं, "विश्व की संस्कृति में प्राचीन भारत का सबसे महत्वपूर्ण योगदान दर्शन के क्षेत्र में ही रहा है। यदि आधुनिक भारतीय बुद्धि को किसी तरह का सोद्देश्य दार्शनिक चिंतन करना है तो उसे पूर्वी चिंतन और पश्चिमी चिंतन को एक-दूसरे के मुकाबले खड़ा करके या तो उनके बीच कोई सम्भावित संश्लेषण करना होगा, या फिर हो सके तो किसी एक को तार्किक रूप से खारिज करने कोशिश करनी होगी।"

इस संकट का कारण हमारी शिक्षा प्रणाली है। यह हमारे अंदर पश्चिम के प्रति झुकाव पैदा करती है। पश्चिम मानक और महत्वाकांक्षा दोनों बन जाता है। भट्टाचार्य कहते हैं, "हमारी शिक्षा ने अभी तक हमें खुद को समझने में मदद नहीं की है। यह न तो हमें हमारे अतीत का महत्व बताती है और न ही वर्तमान की हकीकतों और भविष्य के लक्ष्य को समझने में सहायता करती है। यह शिक्षा तो हमारी वास्तविक बुद्धि को सुप्त करके उसकी

जगह एक छाया-बुद्धि बैठा देती है, एक ऐसी छाया-बुद्धि जिसका हमारे अतीत और वर्तमान में कोई बुनियाद नहीं है। हमारी पुरानी बुद्धि को पूरी तरह से पृष्ठभूमि में नहीं धकेला जा सकता, न ही इसके बदले थोपा गया विकल्प प्रभावकारी और फलदायक तरीके से काम करता रह सकता है। इसलिए नतीजा यह हुआ है कि बुद्धि के इन दो संस्करणों के बीच भ्रम की स्थिति पैदा हो गई है और विचारों का जगत एक निराशाजनक कोलाहल का शिकार हो गया है। हमारा चिंतन पूरी तरह से संकर है और इसके कारण यह अनिवार्य रूप से बेमजा और बंजर बन गया है। दासता हमारी आत्मा में प्रवेश कर चुकी है।"

इस दासता से उबरने की भी कोशिश आधे मन या बेमन से होता रहा है। जिसका हम इधर उधर से कुछ बातों को जोड़ते रहे हैं। भाषा के स्तर पर हम अपनी भाषा में समाजशास्त्र या विचार प्रणाली को आगे नहीं बढ़ा पाए हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्तमान युग की समस्याओं और जटिलताओं को जब हम संबोधित करते हैं तब हमें कई उपयुक्त शब्दों की अल्पता महसूस होती है। समाजशास्त्र का अभ्यास अंग्रेजी में होने के कारण अपनी भाषा में हमारा प्रवाह बाधित रूप से या अंग्रेजी शब्दावलियों के सहारे होता है। इसका निदान समाजशास्त्र का समकालीन समाज की समस्याओं, सिद्धांतों, संघर्षों, समन्वय, वैकल्पिक मान्यताओं के साथ निरंतर अभ्यासपूर्वक साक्षात्कार एवं भाषा का भी संदर्भीकरण होता है। लम्बे समय से भाषा का उपयोग नहीं होने पर जो हमारी भी सीमा होती है वह भाषा के स्तर पर सीमा बन पाती है। भट्टाचार्य कहते हैं, "हमारे विचारों के संकटीकरण का प्रमाण यह है कि हमारे शिक्षित लोग देशी भाषा और अंग्रेजी की हैरतअंगेज खिचड़ी में एक-दूसरे से बात करते हैं। खासतौर पर सांस्कृतिक विचारों की अभिव्यक्ति करने के लिए हमें पूरी तरह से देशज भाषा का उपयोग करना बहुत ही मुश्किल लगता है। मसलन, अगर मुझसे आज का पूरा विमर्श बांग्ला में करने के लिए कहा जाता तो मुझे इसके लिए अच्छी खासी मशक्कत करनी पड़ती। इस तरह की प्रशंसनीय कोशिशें होती रहती हैं और इनकी सराहना भी होनी चाहिए। यह अलग है कि इन्हें हमेशा कामयाबी नहीं मिलती। शायद यह संक्रमण के दौर की स्थिति है। मेरी मान्यता है कि अगर हम भाषा की यह बाधा पार कर लें तो विचारों का स्वराज हासिल करने की दिशा में एक बड़ा कदम बढ़ाया जा सकता है।"

विदेशी तत्वों को शामिल करना और विदेश विचार-प्रणाली के प्रति समर्पण करना दोनों में अंतर है। भट्टाचार्य कहते हैं, "जहाँ इसकी जरूरत है, वहां हमारे आदर्श को

विदेशी आदर्श में समाहित करने के बजाय विदेशी आदर्श को हमारे आदर्श में समाहित किया जाना चाहिए। किसी भी मामले में हमें अपनी वैयक्तिकता का समर्पण नहीं करना चाहिए: स्वधर्मे निधानं श्रेय: पराधर्मो भयावह:।"

भट्टाचार्य आगे कहते हैं, "अगर कुछ सार्वभौम है तो वह है सिर्फ हमारी चेतना, हमारे अपने आदर्शों के प्रति निष्ठा और दूसरे आदर्शों के प्रति खुलापन। साथ ही यह भी कि यदि हम किन्हीं विदेशी आदर्शों को अपने आदर्शों के भीतर पाते हैं, तो उन्हें खारिज नहीं करेंगे और जब तक हम उन्हें अपने आदर्शों के भीतर नहीं पाएंगे, तब तक उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे।"

अनौपनिवेशीकरण कुछ विषयों खासकर विज्ञान के क्षेत्र में लागू नहीं होता है। विज्ञान ज्ञान की ऐसी शाखा है जिसकी सार्वभौमिकता होती है। ठीक उसी प्रकार तकनीकी के क्षेत्र में भी अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया लागू नहीं की जा सकती है। भट्टाचार्य ने इस संबंध में लिखा है, "ज्ञान की कुछ खास शाखाएं विदेशी दृष्टिकोण थोपे जाने की समस्या से मुक्त हैं। जैसे गणित और प्राकृतिक विज्ञान। इन ज्ञान-शाखाओं की कोई राष्ट्रीयता नहीं होती और इनका अलग से कोई मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। जब भी खासतौर पर ज्ञान की किसी शाखा का मूल्यांकन किया जाता है, तो संदेह पैदा होता है कि इनके बारे में फैसला करने वाले व्यक्ति का अपना राष्ट्रीय, सामुदायिक या नस्लीय नजरिया इस तरह के मूल्यांकन पर हावी हो जाएगा। इसलिए किसी विदेशी द्वारा अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हमारी संस्कृति के मूल्यांकन को हमें तुरन्त स्वीकार करने के बजाय उसका आलोचनात्मक परीक्षण करना चाहिए। कोई अगर हमें चुटकी काटे तो हमें उस पर प्रतिक्रिया करनी ही चाहिए।"

वे आगे कहते हैं कि "विज्ञान की अवधारणाओं को छोड़कर सभी अवधारणाओं पर इस मामले में कुछ संदेह किया जा सकता है। इस तरह के सांस्कृतिक विचारों के प्रति हमारी क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए? उन्हें स्वीकार तो करना होगा, लेकिन ऐसे रूपकों और प्रतीकों के रूप में जिनका हमारी अपनी देशज अवधारणाओं में अनुवाद किया जाना है।"

चिंतन के क्षेत्र में 'स्व' का तात्पर्य समझाते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि "हमें इस बात का पक्का निश्चय होना चाहिए कि हर जगह अपनी अवधारणाओं की रोशनी में चिंतन करेंगे। सिर्फ ऐसा करने पर ही हम अपने बारे में ज्यादा फलदायक चिंतन कर सकते हैं। विचारों के दायरे में तो इन लोगों को इस बात का बहुत कम अहसास है कि हम केवल

आम लोगों के जीवन और बुद्धि को स्पंदित करने वाले देशज विचारों की रोशनी में सोचकर ही प्रभावकारी चिंतन कर सकते हैं। हम अपने देश की जाति-व्यवस्था की निंदा करते हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि पश्चिमी शिक्षा हासिल किए हुए हम लोग खुद एक विशिष्ट जाति का निर्माण करते हैं। पश्चिमी शिक्षा हासिल करने वाले लोगों की यह जाति परम्परागत जातियों की तुलना में कहीं ज्यादा असहिष्णु है।"

न्गुगी से भट्टाचार्य तक एक समानता देखी जा सकती है। दोनों ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नारे व सिद्धांत की पात्रता का दायरा बढ़ा दिया है। 'क्या बोलना' और 'कब बोलना' की आजादी ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं है बल्कि बोलने के पीछे जो मन, मस्तिष्क और वातावरण होता है। वे स्वतंत्र हैं या नहीं? क्या व्यक्ति या समाज बाध्यताओं के दौर से गुजरकर दासत्व बोध ग्रहण कर चुका है? अथवा दासत्व को छोड़कर दुनिया को अपनी दृष्टि से देखता है। दोनों ही चिंतक इसी प्रश्न को आगे बढ़ाते हैं और सार्थक विमर्श को जन्म देते हैं।

III पाश्चात्य आधिपत्य बनाम स्थानीयता

साम्राज्यवाद का विस्तार तीन रास्ते से हुआ- सैन्य, धर्म और चिंतन द्वारा। इन तीनों के बीच परस्पर जीवंत और सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध था और तीनों ही समान उद्देश्य के लिए अपने-अपने तरीके से प्रयासरत रहे। उनके तौर-तरीके अलग-अलग होते थे परन्तु एक दूसरे को इन तीनों ने मिलकर उपनिवेशों के बीच नीतियों का निर्धारण और शासित लोगों के द्वारा जो विद्रोह एवं विरोध की भावना और आंदोलन उठता था उसे सुस्त करने, दबाने और कुचलने का काम अपने-अपने तरीके से किया। इस पूरी प्रक्रिया ने पश्चिम जगत को उपनिवेशों के लोगों, उनके स्वभाव, उनके बीच विरोधाभास, विविधता, उनकी परम्परा, जीवन-शैली, उनके इतिहास को समझने के लिए प्रेरित और बाध्य किया। इसलिए एक सैनिक या एक जनगणना अधिकारी या नौकरशाह अथवा समाजशास्त्री सब अपनी-अपनी शैली और समझ से औपनिवेशिक समाज के ऊपर अपनी राय भाषणों, लेखों और पुस्तकों के रूप में व्यक्त करना शुरू किया और यही से पश्चिम के सामाजिक विज्ञान का भारत या अन्य उपनिवेशों के प्रति दृष्टिकोण स्थापित होता है। जिन उपनिवेशों में, विशेषकर भारत में बौद्धिक रचनाओं और दर्शनों की प्रचुर सामग्री मिली, वहाँ पर पश्चिम के समाजशास्त्रियों की रुचि बढ़ती गई। पश्चिम का साम्राज्यवाद इस मान्यता पर अडिग रहा कि वे साहित्य, समाजशास्त्र, इतिहास, चिंतन प्रक्रिया और यहाँ तक कि धर्म के मामले में उपनिवेशों की तुलना में श्रेष्ठ हैं। उनकी श्रेष्ठता एवं उपनिवेशों की अक्षमता और पिछड़ेपन की खाई ऐतिहासिक एवं बौद्धिक स्तरों पर दो बातों की ओर इंगित करता है। पहला, पश्चिम का मनुष्य आधुनिक है, उसकी चिंतन प्रक्रिया उच्च स्तर की और प्रगतिशील है। दूसरी तरफ, उपनिवेशों या दूसरी दुनिया के लोग प्रगति से कोसों दूर हैं और चिंतन प्रक्रिया में दूसरे दर्जे का है। पश्चिम ने एक और मापदंड का उपयोग किया। प्राकृतिक आयामों से सन्निकटता को आधुनिकता विरोधी माना। इसलिए जिस समाज या धर्म की परम्पराओं में पेड़-पौधों, नदियों, पहाड़ों और पशुओं से भावनात्मक अथवा आध्यात्मिक रूप से या कर्मकांड के स्तर पर सन्निकटता रही है उसे समकालीन पश्चिमी चिंतकों ने अपयश, निंदा, बर्बरता और असभ्यता की पहचान

मानी है। औपनिवेशिक चिंतकों ने हिन्दू धर्म और समाज की आलोचना का एक बड़ा कारण उनके स्वभाव में प्राकृतिक उपादानों के महत्व को स्वीकार करने को माना है। पश्चिम की इस शैली ने उनमें एक झूठा आत्म-गौरव का भाव भर दिया कि चिंतन सृजन के वे स्वाभाविक नेतृत्वकर्ता हैं।

भारत में जैसे-जैसे उपनिवेशवाद का विस्तार होता गया वैसे-वैसे यूरोप के चिंतकों को अपनी साम्राज्यवादी मान्यताओं पर पुनर्चिंतन करना पड़ा। यद्यपि औपनिवेशिककालीन भारतीय समाज में अनेक प्रकार की सामाजिक और धार्मिक बुराईयाँ विद्यमान थीं लेकिन उस तात्कालिकता से हटकर जब इसके मूल सांस्कृतिक और बौद्धिक सम्पदा के साथ साक्षात्कार होता गया वैसे-वैसे पश्चिम की रणनीति भारत के प्रति बदलती गई। बहुत से पाश्चात्य चिंतक तो भारतीय दर्शन और संस्कृति से ओतप्रोत होकर इसके घोर प्रशंसक और अनुयायी हो गए और उन्होंने भारत विरोधी समझ और लेखन का प्रतिकार भारतीय दर्शन की श्रेष्ठता और सृजनशीलता को सामने रखकर करना शुरू किया। यथार्थ में यही से प्राच्य विद्या (Orientalism) की शुरुआत होती है। इसने भारत की दार्शनिक उपलब्धियों और वैभव को थोड़ी प्रधानता देकर अध्ययन को आगे बढ़ाया। इस कारण से बहुत से आलोचकों ने प्राच्यशास्त्री को 'भारत पूजक' (India-Worshipers) कहकर आलोचना करते हैं। लेकिन प्राकारांतर में पश्चिम ने भारतीय दर्शन और चिंतन का दोहन करना शुरू किया और इसे अपनी दार्शनिक उन्नति का आधार भी बनाया। परन्तु इसे विचारों की दुनिया में समान रूप और समान स्थान नहीं दिया। समभाव के इस अनुपस्थिति के कारण उपनिवेश के लोगों के प्रति पराया होने (Otherness) का बोध कराया। यह किसी न किसी रूप में उपनिवेशवाद के अंत के बाद भी कमोबेश पश्चिम के चिंतन और चेतना में विद्यमान है, और यही संघर्ष का बड़ा कारण है।

स्व (Self) एवं पराया (Other) होने के बीच जो खाई है उसी ने पश्चिम के मन में आधिपत्य स्थापित करने और उसे जारी रखने का एक स्थाई विचार पैदा किया है। लोगों के 'पराया होने' का विचार नस्लवादी सिद्धांत की ऊपज है और यह इस मान्यता से ऊपजी है कि आधुनिकता की आधारशिलाएँ अलग-अलग एवं भेदभाव मूलक हैं।[35] समाजशास्त्र में 'पराया होने' का जो बोध था वही व्यावहारिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रकट हुआ। प्राच्यशास्त्र की सबसे बड़ी विफलता यह है कि यह पश्चिम के मन और विवेक को यह

35. गिलोरी, पॉल, 2000, 'अगेस्ट रेस : इमेजिनिंग पॉलिटिकल कल्चर बियोंड द कलर लाइन', हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

समझाने में विफल रहा है कि लोगों का चिंतन अपनी स्थानीयता से ऊपजता है। वे उनके अनुभवों जीवन-शैली और प्रकृति को देखने के नजरिये से आगे बढ़ता है। प्राच्यशास्त्र सभ्यताई विमर्श को जन्म देने में अक्षम रही और अपनी सीमाओं के कारण सिमट कर रह गई। उदाहरण के लिए प्राच्यशास्त्र ने भारत की बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों को तो सामने रखा परन्तु भारतीय राष्ट्र और पश्चिम के राष्ट्र की अवधारणाओं के बीच के अंतर को स्थापित करने में विफल रहा। पश्चिम के चिंतन में राष्ट्र की परिभाषा इसका यूरोप एवं भारत के बाहर जन्म और भारतीय शास्त्रों में इसकी परिभाषा अलग-अलग है। जहाँ पश्चिम राज्य और राष्ट्र को समानार्थक रूप में देखता है और इसे मूलत: राजनीतिक भाषाई या नस्लीय पहचान के रूप में देखता है। वही भारतीय परम्परा में राष्ट्र की अवधारणा सभ्यताई और सांस्कृतिक है जो राज्य की राजनीतिक अवधारणा से अलग एवं सर्वसमावेशी है। इसलिए भारतीय राष्ट्र एक सभ्यताई सांस्कृतिक राष्ट्र है और यह एक महज संयोग है कि पिछले कुछ सदियों में दुष्परिणामकारी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भारत की चौहद्दी सिमटती गई। इसकी सांस्कृतिक और वैचारिक विकास की प्रक्रिया निर्बाधित नहीं रही है और औपनिवेशिक कल्पना एवं सिद्धांत ने दुनिया के नक्शे को निर्धारित किया। इसलिए आज भारतीय राष्ट्र, राज्य प्राय: एक रूप में है लेकिन अवधारणा की विविधता और अंतर सनातन रूप से विद्यमान है। भारतीय राष्ट्र वर्तमान के संदर्भों से परिभाषित नहीं होता है और न ही भूराजनीतिक सीमाओं से परिभाषित होता है। इसकी सांस्कृतिक विरासत और बौद्धिक सम्पदा का प्रभाव जिस रूप में रहा वह भूराजनीतिक सीमाओं से परे रहने के बावजूद भी राष्ट्रीय अवधारणा का अभिन्न हिस्सा है। पाणिनी और दांडयायन, जैसे कुछ प्राचीन विचारकों का जन्म आज के पाकिस्तान की भूमि में हुआ परन्तु उनका व्यक्तित्व और कृर्तत्व भारतीय राष्ट्र साधना का हिस्सा रही। पश्चिम के चिंतन प्रणाली में प्राच्यशास्त्र के बाद उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन की विधा आई। वह भी पाश्चात्य आधिपत्यवादी सीमाओं में ही बंधी रही। इसका रूप व्यापक था परन्तु इसने पश्चिम की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दी। यह तब तक संभव नहीं है। जब तक पश्चिम के वर्तमान के पीछे के इतिहास का पुनर्परीक्षण नहीं करते हैं। इसमें दूसरे होने के सिद्धांत को सैद्धांतिक रूप से जरूर खारिज किया। परन्तु पश्चिम की दबावपूर्ण आधिपत्य को समाप्त करने में विफल रहा। पश्चिम के चिंतक और चिंतन प्रक्रिया भारत की सभ्यता और संस्कृति से तुलना उनके अपने यहाँ हुए प्रबोधन (Enlightenment) के बाद के भारतीय समाज और राष्ट्र से करना शुरू किया। यह तुलनात्मक पद्धति अपने जन्म काल से ही कुंठित और न्यूनतायुक्त रही है। पुनर्जागरण से पूर्व का यूरोप और उस काल के पहले का भारत की तुलना दो सभ्यताओं के बीच की

विमर्शात्मक तुलना होगी। वह दो सभ्यताओं के बीच बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों में अंतर, उनके प्रभाव के बीच अंतर और उनकी सनातनता का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है। लेकिन ऐसा न प्राच्यवादी (Orientalist) कर पाए और न उत्तर औपनिवेशिक चिंतक।

औपनिवेशिक नीति के निर्धारण में ईसाई धर्म के प्रसार और ईसाई सिद्धांतों के प्रभाव को सामान्यतया अलग करके देखा गया जो यथार्थ के विपरीत है। भारत की 1872 से लेकर 1941 तक की जनगणना रिपोर्ट यह दर्शाती है कि औपनिवेशिक शासन से जुड़े नौकरशाह और राजनीतिज्ञ और ईसाई मिशनरियों के बीच अटूट सम्बन्ध था और औपनिवेशिक नीति का एक महत्वपूर्ण पक्ष ईसाई धर्म का प्रचार भी था। उन्हें राज्य का प्रश्रय प्राप्त था और ईसाई प्रचारक साम्राज्यवाद की मजबूती के लिए काम करते रहे।

पाश्चात्य अध्ययन प्रणाली (Occidental) ने इन बातों को प्रमुखता नहीं दिया है। इन अध्ययन पद्धतियों के गंभीर विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज और संस्कृति को विनष्ट करने की साम्राज्यवादी साजिश और वैचारिक प्रयास की लीपापोती की गई। यहाँ तक कि प्राच्यवाद में भी पूर्व उपनिवेश के देशों की अस्मिता और उपलब्धियों की बात तो कही गई लेकिन साम्राज्यवादी दमन के सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभाव को लघु स्तर पर प्रस्तुत किया गया। इसीलिए एडवर्ड सईद ने प्राच्यवाद की बहुत ही सही व्याख्या की है, "प्राच्य मूलतः यूरोप के चिंतकों की खोज है। प्राच्य न सिर्फ यूरोप का निकटस्थ है बल्कि यूरोप के महानतम सबसे पूराने और सबसे धनी उपनिवेशों का भी स्थान है। यह यूरोप के सभ्यता और भाषाओं का स्रोत भी है और इसका सांस्कृतिक प्रतिरोधक भी। साथ ही साथ दूसरे होने की छवियों का सबसे गहरा और बार-बार उत्पन्न होने वाला भी स्थान है...प्राच्य ने यूरोप को अपनी विपरीत छवि, विचार, व्यक्तित्व और अनुभव को परिभाषित करने में मदद की है। तब भी प्राच्य का कोई भी भाग इनके लिए मात्र कल्पनीय नहीं है। प्राच्य यूरोप के भौतिकवादी सभ्यता और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। प्राच्यवाद विमर्श के उस सांस्कृतिक और वैचारिक पक्ष की अभिव्यक्ति और प्रतिनिधित्व है जिसे संस्थाओं, शब्दावलियो, विद्वता, कल्पना, विचारों और यहाँ तक कि औपनिवेशिक नौकरशाही और औपनिवेशिक तौर-तरीकों का समर्थन प्राप्त है।"[36]

सईद ने मिशनरियों के आचरण, नौकरशाही एवं औपनिवेशिक नीति पर प्रभाव को उचित स्थान नहीं दिया है। वे आगे लिखते हैं कि प्राच्य और पश्चिम (Occident) के बीच

36. सईद, एडवर्ड, डब्ल्यू (1978) ओरिएंटलिज्म, न्यूयॉर्क, विंटेज बुक्स, पृष्ठ-1-2

संबंध, 'शक्ति, आधिपत्य और अलग-अलग स्तर के एक जटिल प्रभुत्ववाद' का होता है।[37]

सईद द्वारा प्राच्यवाद के तीन स्तरों पर किए विभाजन को देखकर समझा जा सकता है कि इस विधा ने किस प्रकार पूर्व उपनिवेशी देशों को भूतकाल में उपयोगी और वर्तमान काल में परजीवी बनाकर रखा है। पहले स्तर में इस विधा में भारतीय दर्शन के अस्तित्व के बारे में स्थापना है। इसका मानना है कि भारत न ही बिना इतिहास का और न ही बिना सभ्यता वाला देश है। इस प्रकार इस चरण में यूरोपियों द्वारा भारतीय दर्शन के महिमागान के साथ-साथ उसकी आलोचना भी है।

दूसरा स्तर, भारतीय दर्शन द्वारा आधुनिक यूरोपीय विचारों को गढ़ने का है। इस प्रकार भारतीय दर्शन और विचारों के साथ यह भेदभाव आधुनिक समय में भी लगातार जारी रहा। इस अवधारणा को जे.जे. क्लार्क ने भी चिन्हित किया और कहा कि 'पूर्वी विचारों का पश्चिम में एक अभिकरण के रूप में राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में आत्मलोचना और विचारों की नवीनता के लिए प्रयोग किया गया। तीसरा स्तर पश्चिम और पूर्व के बीच परस्पर संवाद को महत्व देता है।

सईद के अनुसार ओरिएंटलिज्म, सिद्धांत और व्यवहार के रूप में, एक पश्चिमी अवधारणा है जिसका प्रयोग यूरोपीय अपना प्रभाव जमाने, पुनर्स्थापित करने, विशेषीकरण और ओरिएंटलिस्ट स्थापनाओं को कई हिस्सों में विभाजित करने के एक युक्ति के रूप में किया जाता है ताकि उसमें आसानी से हेर-फेर करके, नियंत्रित किया जा सके। ऐसा एक पूर्वनियोजित, सोची-समझी रणनीति के तहत किया गया है, ताकि पश्चिमी विचारों का आधिपत्य प्राच्य के विचारों और व्यवहारों पर किया जा सके। पश्चिम के विद्वानों का यह तरीका उनके प्रभुत्व और प्राच्य संस्कृति के शोषण के एक लम्बे इतिहास का प्रतिनिधित्व करता है।

सईद, जो कि स्वयं एक फिलिस्तीनी नागरिक थे, अपने आपको पश्चिम के विचारों, पद्धतियों, पूर्वाग्रहों से स्वतंत्र नहीं कर पाए। वे फ्रांस के उत्तर-आधुनिक और उत्तर-संरचनावादी विचारक माइकल फूको तथा जर्मनी के दार्शनिक नित्से के विचारों का सहारा, अपना सिद्धांत विकसित करने के लिए लेते हैं। कार्ल ओल्सन ने सईद की आलोचना उनके पश्चिमी सिद्धांतों पर निर्भरता तथा 'पूर्व' की जगह 'पश्चिमी' विचारों को अपना आधार बनाने के लिए की है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से वे इस बात की पुष्टि करते हैं कि सईद पूर्व के होकर भी तथाकथित प्राच्य समूह के एक सदस्य हैं।

---

37. वही, पृष्ठ 6

भारतीय संस्कृति मुख्य रूप से वेदों पर आधारित पंथनिरपेक्षता से परिपूर्ण है जिसमें सत्य को एक माना गया है और उसकी हजारों व्याख्या हो सकती है। इसका मतलब आलोचनात्मक मूल्यांकन और व्याख्या से है। भारतीय दर्शन द्वंद्ववाद के सिद्धांत को नकारता है जिससे 'दूसरे होने' का बोध नहीं रह जाता है। इस प्रकार दो मूलभूत विचारधाराएँ, पंथनिरपेक्षता/बहुसंस्कृतिवाद और राष्ट्रवाद, जो कि पूरी दुनिया को प्रभावित करती हैं, की व्याख्या पश्चिम के दृष्टिकोण से नहीं की जा सकतीं। यह भारतीय पंथनिरपेक्षता की परम्परा रही है जिसका आधार विचारों की विविधता, विश्वास, एक दूसरे की भावनाओं का सम्मान और त्याग की भावना रही है। भारतीय सभ्यता में पंथनिरपेक्षता की भावना का विकास एक जीवन पद्धति के रूप में हुआ है जिसका कोई अंत नहीं है।

पश्चिमी चिंतन और विमर्श में ईसाई दर्शन और उसकी विकास प्रक्रिया का महत्व है। इसलिए उसकी धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता की अवधारणा पर बाइबिल और ईसाईयों के बीच हुए परस्पर विमर्श की छाप को देखा जा सकता है। पश्चिम के साहित्य में ऐसे धार्मिक शब्दावली भी आते हैं जिसका सामान्य अर्थ नहीं होता है बल्कि ईसाई धर्म से लिए गए सारगर्भित शब्द होते हैं। अत: पश्चिम की आधुनिकता की अवधारणा एक खास दायरे में विकसित हुई है। पश्चिम के समाजशास्त्र ने भारतीय साहित्य और दर्शन को अध्ययन का विषयवस्तु तो बनाया लेकिन उसे विमर्श में हिस्सेदारी नहीं दी। इसलिए आधुनिकता एवं ऐसे महत्वपूर्ण विषयों जिससे समाज जीवन प्रभावित होता है के प्रतिपादन में दुनिया के दो तिहाई से अधिक के हिस्से की भागीदारी सांकेतिक रूप में होती है। रोनाल्ड इंडेन ने सही कहा है, "अपनी दुनिया को बनाने की जो क्षमता भारतीयों की है और भारतीय विधा की जो संस्थाएँ हैं वे सभी पश्चिम की ज्ञान परम्परा से दूसरी विधाओं द्वारा विस्थापित कर दी गई हैं।"[38]

इंडेन की बात में सार्थकता इसलिए है कि भारतीय समाज शास्त्र ने यूरोप के विमर्श को अधिनायकवादी से लोकतांत्रिक बनाने का कभी प्रयास नहीं किया। या तो घोर समर्पण का भाव रहा या घोर आलोचना का। भारतीय दर्शन का वर्तमान से संदर्भीकरण करना और समकालीन दुनिया की समस्याओं पर दार्शनिक दृष्टि और चिंतन करने की प्रक्रिया में समाजशास्त्र की विफलता देखी जा सकती है। उधर यूरोपीय चिंतकों ने अपनी विद्वता और ज्ञान-परम्परा को कभी भी दूसरी ज्ञान परम्पराओं के सामने समभाव से खड़ा नहीं होने दिया।

---

38 इंडेन, रोनाल्ड, बी, (1990) 'इमेजिनिंग इंडिया', कैम्ब्रिज, ब्लैकवेल पब्लिकेशन, पृष्ठ 2

उत्तर आधुनिक दर्शन जो यूरोप के चिंतकों का आधुनिकतम प्रस्तुति है वह विखंडन और पुनर्निर्माण के द्वारा चिंतन को आगे बढ़ाना चाहता है। देरिदा (1930-2004), लेविनास (1906-1995), फूको (1926-1984) आदि के दर्शन में इस अधिष्ठान की समानता देखी जा सकती है। वे इन सभी 'स्व' की उपस्थिति को नकारते हैं जो भारतीय चिंतन के विपरीत भी है। वे पश्चिम के व्यापक अधिष्ठान जो चीजों को सार्वभौम रूप में देखते हैं, को जरूर चुनौती देते हैं। वे मानते हैं कि हर समुदाय या राष्ट्र की अपनी सोच समझ और अभिव्यक्ति होती है। उन्हें एक सांचे में नहीं देखा जा सकता है। लेकिन ऐसा करते समय वे अपने पूर्वज चिंतकों के दृष्टिकोण का खंडन करते हैं और भारतीय चिंतन में विद्यमान सार्वभौमिकता की परिभाषा एवं स्थानीयता और विविधता के महत्व को वे संदर्भ बिन्दु नहीं बनाते हैं। यहाँ भी भारतीय चिंतन-दर्शन अप्रत्यक्ष रूप से उनके अध्ययन का मात्र एक उद्धरण बनकर रह जाता है। यहाँ ओल्सन का यह कथन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है कि "व्यवस्था संबंधित/अर्थ विषयक (Hermeneutical) संवाद उत्तर आधुनिक चिंतन के द्वारा पूर्व और पश्चिम के सामने जो चुनौती रखी जा रही है, उसका उत्तर बन सकता है।[39]

ओरिएंटलिज्म या उत्तर-आधुनिक विमर्श दोनों में से कोई भी वैश्विक संवाद का लोकतांत्रिकरण नहीं कर पाता है। हर नया सिद्धांत जो यूरोप से पनपता है और जिसे गैर-यूरोपीय देशों के चिंतक दुनिया की एक नई उपलब्धि मानकर पढ़ते, समझते और व्याख्या करते हैं और अपनी चिंतन धारा और पाठ्यपुस्तकों को उसके अनुसार ढालने लगते हैं। ऐसे पश्चिम से उपजी सभी चिंतन धाराएँ पश्चिम के वैचारिक नेतृत्व की दावे को और अप्रत्यक्ष बौद्धिक दमन को वैधानिकता प्रदान करते हैं। इसलिए आज आवश्यक यह है कि उनकी मूल मान्यताओं पर विमर्श हो और उसका भारतीय दृष्टिकोण से परीक्षण किया जाए। पश्चिम जिस स्थानीयता के वैशिष्ट्य को महत्व देने की बात करता है उसमें भारत की विविधता का क्या मायने निकाला जाता है और भारतीय परिवेश में बहुधा का जो अर्थ है और जो वस्तुतः जीवन पद्धति का हिस्सा भी है वे पश्चिम के बहुलतावाद (Pluralism) से कैसे भिन्न हैं? इस प्रश्न के साथ-साथ दोनों के दार्शनिक इतिहास की विकास की प्रक्रिया को वैदिक सभ्यता के आरम्भ से तुलनात्मक व आलोचनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। पश्चिम ने जो समय या सीमा इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए निश्चित की है उसका उद्देश्य कुछ सौ सालों में दूसरे शब्दों में साम्राज्यवाद की उत्पत्ति के बाद से, जो पश्चिमी चिंतन धारा को प्रमुखता मिली है वही तुलनात्मक अध्ययन का क्षेत्र रहा। इसका

39. ओल्सन, पृष्ठ 11

एक समाधान सभ्यताई अध्ययन के साथ संस्कृति के विकास के तुलनात्मक अध्ययन को आगे बढ़ाना है।

महर्षि अरविन्द

ब्रिटिश राज की समाप्ति सन् 1947 में हुई, लेकिन विभिन्न संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से औपनिवेशिक संस्कृति यूरोपीय विचारों की छत्रछाया में उसके बाद भी जारी है। यह शासन करने की पुरानी पद्धति, सोच विचार की प्रक्रिया आज भी अनवरत जारी है। पश्चिमी विचारों का दर्पण आज भी भारतीयता की कल्पना को प्रदर्शित करता है। ऐसी घड़ी में राजनीतिक नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

भारत में औपनिवेशिक मानसिकता से विमुक्तिकरण की प्रक्रिया की बाधा और विमुक्तिकरण की चुनौतियों को सात स्तर पर समझा जा सकता है। पहला, आजादी के दौरान साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के मंचों और विमर्शों में विभिन्न राजनीतिक रंगों के साथ विचारधाराओं का भी समावेश रहा है। उसमें कई ऐसी विचारधाराएँ थीं जिनकी अच्छाई या बुराई पर बहस एक अलग प्रश्न है परन्तु वे निर्विवादित रूप से यूरोप के चिंतकों द्वारा प्रतिपादित थीं जिनमें साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद और व्यक्तिवाद आदि प्रमुख थे। वहीं से आधुनिकता की भी अवधारणा आई। इन सभी प्रश्नों पर शिक्षित भारतीयों ने भारतीय संदर्भों, भारतीय मानस और भारतीय बोध तीनों की उपेक्षा करके उसे प्रायः उसके मौलिक स्वरूप में ही अपना लिया। दूसरी तरफ भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी सम्प्रेषण और बौद्धिक उन्नति का विकल्पहीन आधार बनता चला गया। इसने सांस्कृतिक प्रवाह, मौलिकता और मानसिक उन्नति तीनों पर गहरा आघात किया। यूरोपीय तौर तरीकों और उसकी भौतिक उन्नति ने भारत के कुलीनों के सामने आदर्श बना दिया। साम्राज्यवादियों ने विरोध करने वाली उन्हीं ताकतों को अपने विरोधी साबित करने की कोशिश की जो उसकी सभ्यताई और सांस्कृतिक आधार को चुनौती नहीं दे रहे थे। यही कारण है कि जो देशज धाराएँ अपने मौलिक रूप में देश के दर्शन, संस्कृति और अस्मिता को लेकर सभ्यताई संदर्भ में साम्राज्यवाद को चुनौती देने के लिए खड़ी हुई उन्हें साम्राज्यवादी चिंतकों के साथ-साथ भारतीय किंतु विदेशज मानसिकता वाले विचारकों से भी मुकाबला करना पड़ा। उदाहरण के लिए बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, महर्षि अरविन्द, राजनारायण बसु आदि का व्याख्यान और लेखन भारत को मजबूत सांस्कृतिक और सभ्यताई आधार प्रदान

करता रहा। परन्तु साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन की मुख्य धारा ने उसे केन्द्र नहीं बनने दिया। यही कारण है कि आजादी के बाद भी यूरोप का विचारतंत्र भारत के विचारतंत्र को अपने अधीन बनाए रखने में सफल हो पाया।

दूसरा, भारत के लम्बी सभ्यताई यात्रा में जीवन पद्धतियों के जिन आयामों का विकास हुआ उनमें एक पंथनिरपेक्षता की अवधारणा है। यह बहुधा का पोषक और विविधता का संरक्षक है। इसलिए सांस्कृतिक और धार्मिक प्रवाहों में अनंत विविधताएँ विभाजन का कारण नहीं बन पाईं। 1911 के जनगणना रिपोर्ट में जनगणना आयुक्त ने लिखा है, "भारत में पड़ोसी की आस्था (पूजा-पद्धति) क्या है? इसमें लोगों की रुचि नहीं होती है।" अत: विविधताओं के बीच एकत्व के भाव ने 'दूसरे होने' का नकारात्मक बोध पैदा नहीं करता है। लेकिन पाश्चात्य प्रभाव ने भारत में धर्म को लोगों के बीच विभाजन का एक कारण बनाकर उन अवधारणाओं का संस्थाकरण कर दिया जो भारतीय सभ्यताई यात्रा के हिस्से नहीं थे। जैसे-अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक। औपनिवेशिक विमर्श ने विविधताओं के बीच विभाजनकारी पहचान और अस्वस्थ प्रतिद्वंद्विता का भाव पैदा किया। आजादी के बाद सामाजिक एवं सांस्कृतिक आंदोलनों ने इन प्रश्नों को प्राय: अनदेखा किया। अधिकांश सामाजिक, राजनीतिक और सुधारवादी आंदोलन राजसत्ता के निकटता की कारण अपने महत्व को और अपनी स्वायत्तता के क्षरण को नहीं भांप पाई। उधर, नेहरूवादी राज्य ने इन आंदोलनों को अपनी निकटता और प्रश्रय से निष्प्रभावी करने का काम किया। इस कारण से सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में सुधार की प्रक्रिया के साथ-साथ औपनिवेशिक संस्कृति से मुक्ति का अभियान दोनों ही राज्य के ऊपर पूरी तरह आश्रित होता चला गया।

तीसरा, शिक्षा के क्षेत्र में भारत की अपनी पहचान आर्थिक आवश्यकताओं एवं सामुदायिक और सांस्कृतिक अपेक्षाओं के बीच समन्वय का भाव तथा समाज-विज्ञान में दर्शन के अध्ययन को प्राथमिकता नहीं दिया जाना हमें हीन भावना का शिकार बना देता है। यूरोप शिक्षा एवं विचारों का आदर्श नेतृत्वकर्ता बन गया। जिसकी नकल या जिसको अपनाना सतही मानसिकता का हिस्सा बनता चला गया।

चौथा, सांस्कृतिक चेतना जो हमारी महान बौद्धिक विरासत का हिस्सा रहा है। उसका हिन्दू कर्मकांड से जोड़कर निरंतर अवमूल्यन किया गया। यह एक औपनिवेशिक उपक्रम रहा है जिसका उद्देश्य भारतीयों को सिद्धांतत: अपने दर्शन और प्रगतिशील संस्कृति से दूर रखना था। संस्कृति, दर्शन और बौद्धिक रचनाओं, जो आज के संदर्भ में अध्ययन का पात्र होनी चाहिए वे अस्वाभाविक रूप से उपेक्षित हुए। इसके कारण 'हम कौन हैं?' और 'हम क्यों हैं?' जैसे प्रश्नों का उत्तर भ्रमित एवं धूमिल होता गया। भारतीय होने की परिभाषा

संवैधानिक, राजनीतिक और भौगोलिक इन तीन आयामों से निर्धारित होने लगी। एक ऐतिहासिक समाज और सभ्यता का यह पराभव सहित दूसरों के बनाए गए शिकंजे में सिमटकर अपने अस्तित्व को परिभाषित करने का यह सबसे अच्छा उदाहरण है।

पाँचवाँ, यूरोप जो दुनिया का एक मात्र छोटा हिस्सा है और जिसके वर्तमान के साथ अनेक विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों एवं विचारों का इतिहास जुड़ा हुआ है, वह विचार और विकास के स्तर पर अपने-आप को दुनिया मानता है। यद्यपि इस अहम के प्रतिकार का सिद्धांत भी यूरोप के ही मस्तिष्क से पैदा होता है, इसलिए वह विचारों की दुनिया को घोषित और अघोषित दोनों रूप से राजा मानता है। दीपेश चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'प्रोविंसलाइजिंग यूरोप : पोस्ट कोलोनियल थॉट एंड हिस्टोरिकल डिफ्रेंसेस' (2001) में इस बात का प्रतिपादन मजबूती से किया है कि दुनिया में यूरोप मात्र एक प्रदेश की तरह है। अर्थात् यूरोप के सार्वभौमिक रूप का प्रादेशिकरण उत्तर उपनिवेशवादी विचार प्रणाली में करने का जो प्रयास हुआ वह प्रयास बहुत अधिक सफल इसलिए नहीं हो पाया क्योंकि भारत जैसे देशों में आत्मविश्वासपूर्वक मौलिक रचनाओं की अल्पता रही और समकालीन दुनिया को देखने का एक भारतीय दृष्टिकोण स्वायत रूप में विकसित नहीं होने दिया गया। चक्रवर्ती लिखते हैं कि एक बौद्धिक वर्ग जो मूलत: अंग्रेजी भाषी कुलीनों का छोटा समूह है। उसने हर प्रकार से यूरोप के सार्वभौमिक स्वरूप के औचित्य को स्थापित करने का प्रयास किया है और उनका "आमलोगों के प्रति दृष्टिकोण वैकल्पिक रूप से दयालु और शोषण का रहा है। लेकिन वे कभी भी सर्वसमावेशी नहीं रहे।"[40] इसके प्रतिकार में जो बौद्धिक और सांस्कृतिक धाराएँ उत्पन्न हुईं उसको इन प्रभावशाली बुद्धिजीवियों, जो फ्रैंट्ज फैनन के अनुसार 'आत्ममुग्धता' (Willfull Narcissim) के लिए जाने जाते थे, के वैचारिक और मानसिक दमन का सामना करना पड़ा। यद्यपि यह बात फैनन ने अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के सम्बन्ध में कही है लेकिन उसकी छाया भारत में देखी जा सकती है। संक्षेप में सांस्कृतिक आक्रमण और राजनीतिक वर्चस्व दोनों से लड़ने की जगह हम सिर्फ दूसरे से लड़ते रहे और पहले के प्रति उदार बने रहे।

छठा, औपनिवेशिक विचार प्रणाली जिसने भारत में अपने-आप को भौतिक, संवैधानिक और मानसिक विकास का जीवंत उपकरण साबित करने की कोशिश की उसका जितना तथ्यात्मक और तर्कपूर्ण प्रतिकार निरंतरता के साथ होना चाहिए वह नहीं हो पाया। उदाहरण

40. चक्रवर्ती, दीपेश 'प्रोविंसलाइजिंग यूरोप : पोस्ट कोलोनियल थॉट एंड हिस्टोरिकल डिफ्रेंसेस, 2001, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली

के लिए 1867 में दादा भाई नौरोजी ने उपनिवेशवाद के नैतिक आधार को चुनौती अपने सिद्धांत 'धन के दोहन' (Drain of Wealth) में दी थी। उन्होंने 1880 में लिखा था कि भारत की गरीबी का कारण 'चिंतनहीन और संवेदनहीन अंग्रेजी नीति को लागू करने का परिणाम है; यह संवेदनहीनता के साथ भारत की चीजों को भारत में ही हड़प रहा है और आगे संवेदनहीनता के साथ उसे इंग्लैंड भेज रहा है। संक्षेप में यह आर्थिक नियमों की संवेदनहीन विकृति है जिसका शिकार भारत हो रहा है और जो भारत का विनाश कर रही है।

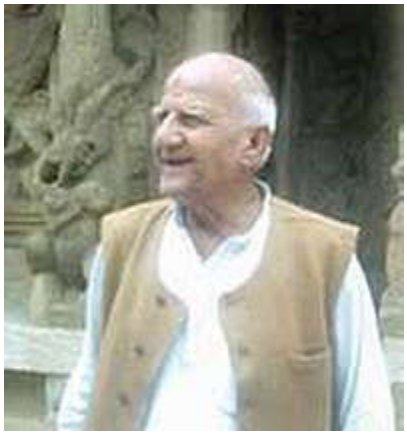

धर्मपाल

नौरोजी के बाद रजनी पाम दत्त, महादेव गोविन्द रणाडे, गोपाल कृष्ण गोखले ने नौरोजी के 'धन के दोहन' के सिद्धांतों की पुष्टि करते हुए साम्राज्यवादियों के आर्थिक विकास की परिभाषा को सवालों के घेरे में लाने की कोशिश की। गोखले ने निर्भय होकर औपनिवेशिक आर्थिक नीति की समीक्षा करते हुए इंम्पीरियल लेजिसलेटिव काउंसिल में अपने दिए गए भाषण में ब्रिटेन के उस दावे को कि वह अधिशेष बजट (Surplus Budget) दे रहा है, को 'लज्जाहीन अनैतिकता' की संज्ञा दी। क्योंकि यह तब था जब अधिकांश भारतीय रोजी-रोटी के लिए संघर्ष कर रहे थे और उन पर करों का भारी बोझ डाल दिया गया था।[41] औपनिवेशिक शासन के अंत के बाद औपनिवेशिक शासनकाल के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सामरिक नीतियों, कार्यपद्धतियों, उसके पीछे की सभ्यताओं, उसके परिणामों का जिस मात्रा में अध्ययन होना चाहिए वह नहीं हुआ। धर्मपाल (1983) का नाम इस संदर्भ में इसलिए उल्लेखनीय है कि उन्होंने कठोर परिश्रम के द्वारा साम्राज्यवाद के सामाजिक-आर्थिक प्रभावों एवं दुष्परिणामों को शोधपूर्ण तरीके से प्रस्तुत करने का काम किया है लेकिन धर्मपाल भारत की मुख्यधारा के समाज विज्ञान के हिस्से नहीं बन पाए। उन्होंने जो साम्राज्यवाद की वास्तविकता को सामने लाने का काम किया और साम्राज्यवाद का जो स्वरूप मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों ने पेश की उसमें एक बड़ा अंतर है। लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों के साम्राज्यवादी शासन का जिस बड़े पैमाने पर व्यवस्थित रूप से

41 गोखले का भाषण, बतबयाल, राकेश, 2007, द पेंगविन बुक ऑफ मॉडर्न इंडियन स्पीचेज : 1877 टू द प्रजेंट, देखें, पेंगविन बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 82-83

अध्ययन होना चाहिए था उसका अभाव हम देख सकते हैं। यह नए देश के बुद्धिजीवियों के वैचारिक पराभव, समझौतावादी दृष्टिकोण और आलस्य के भाव का जीता जागता उदाहरण है। इसने भारत के समाज अध्ययन के नैतिक और बौद्धिक स्वरूप दोनों को कमजोर करने का काम किया है। पराश्रय की निरंतरता छोटे-मोटे सुधारों के साथ प्रायः जारी रही।

सातवाँ, देश का राजनीतिक विमर्श प्रक्रिया और उसका संरचनात्मक ढांचा जो औपनिवेशिक काल से ऊपजी थीं वह बुनियादी तौर पर आंशिक बदलाव के साथ अपरिवर्तित रहा। आजादी के दौरान महात्मा गाँधी को श्रेय जाता है कि उन्होंने साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन में भारतीय तत्व मीमांसा का संचार किया था। गाँधी के इस प्रयोगधर्मी कदम ने पूरी दुनिया की मुक्ति आंदोलनों को प्रभावित किया। गाँधी का यह कदम राजनीतिक विमर्श के भारतीयकरण की प्रभावी शुरुआत थी। लेकिन गाँधी के समर्थकों में गाँधी टोपी पहने यूरोपनिष्ठ लोगों की कमी नहीं थी जो बाह्य रूप से गाँधी के साथ थे लेकिन उनकी मन और मानसिकता यूरोप के साथ एकाग्रता दिखाती थी। आजादी के पश्चात इसी यूरोपनिष्ठ लोगों ने राजनीतिक विमर्श को गांधीयेत्तर या दूसरे शब्दों में विदेशज बनाकर रखा। इसके कारण जो वैचारिक अधिष्ठान स्थापित हुए वे भारतीयों के राजनीतिक मन के वास्तविक प्रतिबिम्बि नहीं बन पाए। प्रभावी यूरोपनिष्ठ राजसत्ता और उसके बौद्धिक आचरण को मिल रहे यूरोप के समर्थन के कारण जो वैकल्पिक बातें हुईं वे मरुभूमि में सशक्त बीज की तरह लम्बे समय तक पड़ी रहीं। उदाहरण के लिए दीनदयाल उपाध्याय ने पश्चिमी प्रशासनिक संरचना की अभारतीयता को उसकी निष्प्रभाविता का कारण बताया। उसी प्रकार राजनीतिक क्षीतिज पर वाम और दक्षिण के पश्चिमी अवधारणा को भारतीय जन-मानस के प्रतिकूल बताया। 1960 के दशक में कही गई ये बातें उपेक्षित रहीं और 21वीं शताब्दी में इन अवधारणाओं के ऊपर लैटिन अमेरिका और यूरोप के चिंतकों ने भी जब सवाल खड़ा करना शुरू किया तो भारत की बौद्धिक धारा उसको समझने की कोशिश करने लगी। पश्चिमी लोकतांत्रिक आचरण और विमर्शों की नकल ने भारतीय लोकतंत्र को लम्बे समय तक कुलीनवादी बनाकर रखा। यही कारण है कि 2014 में उपाध्याय जिस राजनीति के प्रवर्तक थे उसका भारत की राजनीति के केन्द्र में आ जाना भारत को बाहर से देखने वालों के लिए मात्र एक राजनीतिक परिवर्तन नहीं

दीनदयाल उपाध्याय

होकर औपनिवेशिक काल की निरंतरता का अंत होना था। इस संदर्भ में लंदन से प्रकाशित 'द गार्जियन' का संपादकीय उल्लेखनीय है। इसने लिखा था कि "आज (17 मई, 2014) इतिहास में उस दिन के रूप में जाना जाएगा जब ब्रिटेन ने अंततः भारत छोड़ दिया। नरेन्द्र मोदी की चुनावों में जीत उस लम्बे युग का अंत है जिसमें शक्ति की संरचना अंग्रेजों के शासन से कुछ खास भिन्न नहीं थी। कांग्रेस पार्टी के राज में भारत कई अर्थों में अंग्रेजी राज की निरंतरता ही थी।"[42]

परिवर्तन का यह दौर व्यापक राष्ट्रीय पहचान भारतीय मानस पर औपनिवेशिक संस्कृति के प्रभाव से विमुक्ति का व्यापक अभियान और उपक्रम जिसमें बदले और संकीर्णता का स्थान न हो, जब एक प्रवाह का रूप ले लेगा तभी 'गार्जियन' का यह संपादकीय निरंतर जीवंत बना रहेगा।

वास्तव में औपनिवेशीकरण और यूरोपीय सांस्कृतिक और वैचारिक प्रभाव से विमुक्ति का तात्पर्य अपने 'स्व' की पुनर्स्थापना है। यह 'स्व' राजनीतिक विमर्श और संरचना, बौद्धिक जगत और शैक्षणिक पाठ्यक्रमों और अपने संदर्भ में दुनिया को देखने के नजरिये में स्थापित होना चाहिए। तभी भारत अपने और दुनिया दोनों के लिए हितकारी साबित हो सकता है। जो सभ्यता सिर्फ अपनी विरासत को लेकर अपनी पहचान ढूंढती है तब उसका वर्तमान कमजोर एंव असहाय होता है। विरासत तभी पहचान का आधार बनती है जब वर्तमान युग की समस्याओं, अपेक्षाओं, बदलती तकनीकी और आर्थिक परिस्थितियों का समाधान सकारात्मकता के साथ हमारे सिद्धांतों, व्यवहारों, दर्शनों और विचार प्रणालियों में मिलता है। वर्तमान की अनदेखी और बौद्धिक उपक्रम में जड़ता, आलस्य और विश्व को मार्गदर्शन करने का खोखला नारा कमजोर सांस्कृतिक और वैचारिक 'स्व' का प्रतीक होता है। यह बौद्धिक उपक्रम तात्कालिकता से परे उठकर उद्देश्यपूर्ण, तथ्य और तर्कपूर्ण होता है और उसमें देशज प्रतिभाओं की क्रमबद्ध शृंखला बनती जाती है तभी दुनिया के सामने एक वैचारिक अधिष्ठान आता है। प्रो. मणिन्द्र ठाकुर ने लिखा है कि 'आधुनिकता के प्रसार के साथ जिन विषयों का जन्म यूरोप की भूमि पर हुआ वे सभी हमारे विश्वविद्यालयों में ज्ञान-परम्परा के पर्यायवाची बन गए।' वे आगे लिखते हैं कि यह विधा संस्थाओं और नई तकनीकी के समर्थन के बावजूद 'भारत की परम्परागत ज्ञान की पद्धति को भारत के लोगों की सामुहिक चेतना से नहीं हटा पाई।'[43]

---

42. इंडियाज अनदर ट्रिस्ट विद डेस्टिनी, सम्पादकीय, द गार्डियन, 19 मई, 2014
43. ठाकुर, प्रोफेसर मणिन्द्र, 'भारतीय दर्शन की जगह' जनसत्ता, 15 सितम्बर, 2010.

नए संदर्भ में भारतीय जीवन पद्धति के अनुकूल शिक्षा पद्धति जो भारत के परिवार, सामुदायिक जीवन, और सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मन को पुष्पित और संवर्द्धित रख सके, का कोई ठोस प्रयास नहीं हो पाया है। डियेलो ने ठीक ही लिखा है कि "इंग्लैंड का उपनिवेश से जाने की प्रक्रिया ने सिर्फ स्वतंत्रता ही देने का काम नहीं किया बल्कि अपने पीछे अपने उत्तराधिकारी राजनीति और अनंत ब्रितानी प्रकार की संस्थाओं को छोड़ गया।" इन संस्थाओं में प्रवेश करने के बाद भारत की सामूहिक चेतना और संस्था के मूल्यों के बीच एक बड़ा अंतर दिखाई पड़ता है।

महर्षि अरविन्द और विपिन चन्द्र पाल जैसे चिंतकों ने राष्ट्र की जिस आत्मा की बात की थी वह व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर उदार मन और हृदय से अपनी न्यूनताओं को दूर कर एक सभ्यताई पहचान की प्राप्ति में निहित है। इसमें भौतिक विकास के साथ चिंतन सृजन की उन्नति और दुनिया को समझने देखने की क्षमता के अनुसार मानसिक उन्नति का सामूहिक रूप भी है। अनौपनिवेशीकरण का एक सरल अर्थ है स्थानीयता और स्थानीयता से ऊपजी रचनात्मक मौलिकता एवं चिंतन व सृजन का सहज और निर्बाध अभिव्यक्ति तथा दूसरा, स्थानीयता के साथ सरलता और निर्भिकता के साथ विचार एवं चिंतन के स्तर पर संवाद। इसी लक्ष्य की प्राप्ति को विचारों का स्वराज कहा जाता है।

●●●